UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182555

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83 S68 Accession No. H. 3118

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

सतह के नीचे

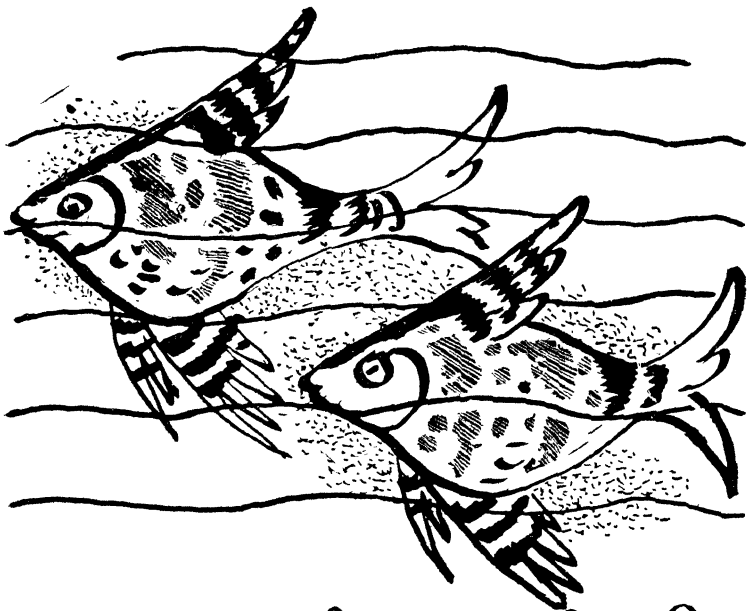

कोमल सिंह सोलंकी

सतह के नीचे

कोमलसिंह सोलंकी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी : १

संस्करण : प्रथम
[जनवरी, १९५९]

मूल्य : तीन रुपया मात्र

Checked 1965

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी–१
मुद्रक : विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०
डी० १५/२४, मानमन्दिर, वाराणसी–१
आवरण : कांजिलाल

सतह के नीचे

कोमलसिंह सोलंकी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी : १

संस्करण : प्रथम
[जनवरी, १९५९]

मूल्य : तीन रुपया मात्र

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी–१
मुद्रक : विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०
डी० १५/२४, मानमन्दिर, वाराणसी–१
आवरण : कांजिलाल

आत्म-निवेदन

उपन्यास के रूप में यह चौथी कृति पाठकों को प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। जीवन के वर्तमान स्वरूप से खिली-खिली साँसों में एक गत्यात्मक चेतन प्रवाह जब मैं देखता हूँ तब बहुत रोकने के बाद भी अपने हृदय को रोक नहीं पाता, तभी शाश्वत राग विचारों को सर्व-साधारण की तुला पर तौलने के लिये प्रयत्नशील हो जाता हूँ। अपने सान्निध्य के प्रति मेरा यह निवेदन जब अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है, तब वही साहित्य के किसी एक अंग का पोषक बन जाता है। आज जीवन के प्रत्येक स्थल पर सहृदय और बुद्धिवादी साधारण और व्यक्ति-वैचित्र्य का भेद खड़ा हो जाता है। मेरा अपना विश्वास है बुद्धिवाद भी यदि अपनी ईमानदारी में अस्तित्व का पोषक हो तो सहृदयता से दूर नहीं हो सकता। वर्तमान युग के प्रति मेरे मन में हीनता की भावना नहीं जाग पाई है और न ही पुरातन मेरे पैरों में जंजीर और हाथों में हथकड़ी बन कर खड़ा हुआ है। साधारण घटना-चक्रों के पीछे मुझे कुछ संकेत मिलते हैं, जिन्हें गूँथता रहूँ तो कथा बड़ी विस्तृत हो जाय और सत्य उतना ही संकुचित। पर कोरा सत्य जन-मानस का बोझ न बन जाये, इसीलिये उपन्यासों में व्यापक और विराट को बाँधने का प्रयत्न होता है। कल्पना-लोक के सहारे सारे भूमण्डल का चक्कर लगा कर फिर धरती उसे अपनी ओर खींच लेती है।

कुछ दिनों से हिन्दी के कुछ उपन्यासकार आंचलिक सीमा के स्पर्श को ही अपना लक्ष्य बना रहे हैं, मैं कभी-कभी सोचता हूँ उपन्यास-साहित्य में ऐसा विभाजन संभव नहीं है। प्रभाववादी आलोचकों के निष्कर्ष बिजली के बल्ब की भाँति आँखों को चौंधिया सकते हैं इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है; पर वे आँखों की शीतलता छीन ले जाते हैं। व्यक्ति से उठकर घर और फिर ग्राम, पुर, नगर, प्रान्त और देश तक——तथा विश्व से

हमारा कितना घनिष्ट संबंध आज हो गया है। हमारे देश के कथा-साहित्य में शायद विश्व के बाद व्यक्ति का प्रभुत्व इस बीच अधिक हुआ इसीलिये हम गृह, ग्राम और पुर की ओर लौट पड़े। यह भी इस कथा-चक्र का एक क्रम ही मैं मानता हूँ। उसका स्वागत किया जाना चाहिये, पर कहीं एक दिन वह एकांगी न हो जाये यह भी डर हो उठना स्वाभाविक है।

आज मनस्तत्व की सत्य प्रतीति और उसका व्यवहार-पक्ष बहुत व्यापक हो रहा है। घटना उसी की एक क्षणिक प्रक्रिया है, इसलिये चरित्र और घटना के सामञ्जस्य के स्थायी सूत्र मुझे भारतीय जीवन, चिंतन में बहुत गहरे उतरते हुए मालूम हुए हैं। यह उपन्यास इसी क्रम की एक रचना है। वर्तमान प्रवृत्तियों में भोगवाद और दार्शनिक चिंतन का बोलबाला पढ़े-लिखों में है, पर इसी प्रकार का विचार मैं बिना पढ़े-लिखे पर गुने लोगों की कोई रचना कर सकूँ यह भी एक विचार है।

इस उपन्यास को लिखने में ढाई वर्ष का समय लगा है और लिखने के बाद एक वर्ष में मैं उसे छपने के योग्य कर पाया हूँ पर उसकी सार्थकता लेखक की उतनी नहीं है जितनी जिनके लिये लिखा--उनके लिये है, पर वहाँ भी आनन्द की परिव्याप्ति में लेखक और पाठक दोनों रस के भागी हों ऐसा मेरा प्रयत्न है।

श्री कृष्णचन्द्र जी बेरी इसे उत्साह से प्रकाशित कर रहे हैं, उनके साथ इसकी पाण्डुलिपि को टाइप करने का श्रम श्री तोमर जी का है तथा अन्य आत्मीय मित्र सभी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

--कोमल सिंह सोलंकी

सतह के नीचे

वैसे जयदेव घुमक्कड़ है—यह उसने अपनी डायरी में लिख रखा है और फिर कोई बच्चा नहीं है। लगभग दो वर्ष हुए एम० ए० पास करने के बाद वह नौकरी के लिये दक्षिण में चला गया था—तब पहिले साल की छुट्टियाँ उसने अपने घर पर गाँव में ही बिताईं पर दूसरे साल की छुट्टियों; में वह दिल्ली पहुँच रहा था, पता नहीं उसके पैर घर की ओर क्यों नहीं मुड़े—पर दिल्ली की ओर ही क्यों, यह तो उसने अपनी डायरी मे कहीं नहीं लिखा। शायद ऐसी सब बातें लिखी न जाती हों या आज का मनुष्य कुछ बनावट-पसन्द अधिक हो गया है। तभी तो विचार नही लिखता, क्रिया लिख रखना चाहता है। यदि वह विचारों के इस संघर्ष को भी व्यक्त कर देता, तो कितना अच्छा होता। मानसिक रोगियों का ही कुछ भला हो जाता।

श्वास की गति के साथ बँधी हुई विचार-शृंखलाओं में उसका मन खो गया, पर व्यवहार सजग हो गया। उसने कुली से पूछा—'...सड़क यहाँ से पास पड़ेगी?'

'न बाबू, ई नई दिल्ली है, दिल्ली जावो, बाबू!...दिल्ली!'

तब क्या जय यह भी नहीं जानता? आदमी समझता है—वह सब कुछ जानता है, कोई चीज उसके ज्ञान से बाहर नहीं है; तभी तो वह अपनी के आगे दूसरे की नहीं सुनता। उसकी सलाह नहीं लेता, पर जो सलाह लेते रहते हैं और उसी में अपने बाल सफेद कर लेते है वे कौन-सी कमाई करते हैं, क्या कर पाते हैं? पर मैंने किसी से पूछा भी नहीं, गाइड भी नहीं देखी, कभी शैलेन्द्र से ही पूछा होता?

उस पर क्षोभ करने से क्या बनना-बिगड़ना है। जय ने नई दिल्ली से दो आने का टिकट खरीदा और गाड़ी में आ बैठा। सामने सीट पर बैठे हुए यात्री उसे बहुत परिचित मालूम हुए, डेढ़ दिन से उनका साथ था वह यहीं उतर रहा था इसलिये उनके मनों में कुछ था—दुःख तो नहीं कहा जा सकता पर मार्ग में घण्टे दो घण्टे साथ चल लेनेवालों से शायद ममता हो जाती हो, फिर जहाँ मन मिल जाय। जय कुछ ऐसा ही है। जहाँ बैठ जाय मित्र बनाना उसके लिए कठिन नहीं है, पर वह जान-बूझ कर बनाना नहीं

चाहता, शायद इसीलिये कि वह फिर उन्हें छोड़ नहीं पाता, छोड़ने में दुःख होता है।

'आप यहीं उतर रहे न ?'—किसी ने पूछा।

'हाँ, पर अब दिल्ली उतरूँगा—यहाँ से वह जगह दूर है।' अनमने रुख से जय बोल गया, पर कुछ सुस्त हो गया था। यह सुस्ती उसमें क्यों आ जाती है यह तो वह भी जानना चाहता था; क्योंकि बाद में जब अपने व्यवहार पर किसी के दुखी होने की कल्पना वह करता तो और अधिक सुस्त हो जाया करता था।

'चलो अच्छा हुआ'—पास मे बैठी हुई एक महिला ने कहा—'थोड़ी दूर और साथ रहेंगे। कहाँ ठहरोगे ?'

'.....सड़क पर, मेरे एक दोस्त है।'

'कितने दिन ?'—किसी ने बीच में ही पूछा, शायद वह पूछना पूछने वाले को ही अच्छा न लगा हो; पर अच्छा-बुरा लगने की इसमें क्या बात है, कोई कुछ समझता है तभी तो पूछता है।

'लगभग सात दिन।'

'बस !'

फिर गाड़ी में दो मिनट मौन छाया रहा—जय के आगे तस्वीरें बनती रहीं और बिगड़ती रहीं...

एक स्टेशन पर भीड़ डब्बे में घुसी चली आ रही है, कुली तो कुली अच्छे भले परिवारों की नारियाँ और पुरुष एक दूसरे को धक्का दे कर घुस रहे हैं—सोचते होंगे पहिले मैं चढ़ जाऊँ, दूसरे चढ़ें या न चढ़ें। और गाड़ी के भीतर से उतरनेवाला एक मिलिट्री का साहब, अपना सामान पहिले उतारे जाने की जिद् में कुलियों पर चिल्ला रहा था—जैसे गाड़ी अब चली, अब चली।

जय इण्टर क्लास में यात्रा कर रहा था। और इण्टर क्लास का यह हाल था ! लोग सोचते हैं—तृतीय श्रेणी के आदमी यदि धक्का-धुक्की करते हैं तो उनका स्तर ही यही है; पर इन्हें क्या हो गया है ? वह मन ही मन खीज रहा था—ये कैसे लोग हैं ? पहिले सब उतर जायँ फिर आसानी से

और लोग चढ़ सकते हैं, और भेड़ों की भाँति सिर घुसा कर चलने की आदत इन्हें क्यों है, ये तो भेड़ नहीं हैं !

पर जय कुछ बोला नहीं।

कोने की सीट पर वह बैठा था और डब्बे का दरवाजा दूसरी ओर था। एक महाशय ने बड़ी जल्दी में उसको हिलाते हुए कहा—"भाई साहब आपको तकलीफ न हो तो मेरा सामान भीतर ले लीजिये—मुझे जरूरी पहुँचना है, दिल्ली जाना है साथ में बच्चे हैं।'

जय ने सब सुना भी होगा अथवा नहीं, यह तो वह महाशय सोच भी न सके पर कहते चले गये। और जय को जैसे उन पर तरस हो आया हो, पर अपनी मानसिक स्थिति वह स्वयं समझने में असमर्थ था, किसी ने क्या कहा यह उसे नहीं मालूम, पर उसकी समझ में यह बात अवश्य आ गई थी कि गाड़ी में चढ़ने का ही सब झगड़ा है।

'आप सामान मँगवा लें।'

और फिर थोड़ी देर बाद सामने की सीट भर गई थी।

जय ने कहा—'आपको तो दरवाजे पर से ही आना चाहिये, माँजी।'

प्रौढ़ा बोली—'बेटा बड़ी भीड़ है, सहारा दे दो, तो मैं यहीं से चढ़ जाऊँ, बेटा शोभा ! तू भी आ जा।'

और जय देखता रहा उसकी सहायता से यह परिवार उसमें बैठ गया, जिसमें महाशय जो, उनकी पत्नी, शोभा और एक बालक था। परिवार मध्यमवर्ग का ही था पर रहन-सहन बिल्कुल आधुनिक। जय ने समझ लिया था—दिल्ली के लोग ऐसे ही रहते हैं, बाहर से कम से कम टीपटाप—भीतर की उसे क्या मालूम, पर जब गाड़ी चल पड़ी तब वह समझ रहा था, कुछ लोग सचमुच कितने सीधे होते हैं, कितना विश्वास कर लेते हैं—तभी तो विश्वास जिंदा है, नहीं तो वह मर न जाय।

घंटे दो घंटे में परिचय बढ़ गया।

लाला केदारनाथ चोपड़ा का दिल्ली में व्यापार होता है, शोभा बी० ए० में पढ़ती है, नंदू भी कुछ पढ़ता है, माँ बात-बात में स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की रट लगाये रहती है। पर सब निश्चिन्त हैं,

बेखबर, अपने आपसे भी और अपनों से भी। रात के दस बजे से खर्राटे भरे जाने लगे, शोभा भी अपनी उनींदी आँखों से सोचती रही, सो जाऊँ तो क्या हर्ज; पर जय केवल शोभा को देखता रहा।

ऐसी आकृति, गोरे-गोरे शरीर पर केसरिया उपादान, नुकीली नाक, कान तक छू जानेवाले अजान नयन, कुछ अपने-आपको समझनेवाली—फिर जैसे इस उमर में प्रत्येक युवती ऐसी ही होती है। प्रत्येक वस्त्र उसके यौवन को उभार देता है, प्रत्येक मुस्कराहट हँसी बिखेर देती है और प्रत्येक दृष्टि ऐसी मानों अन्तर तक के तारों को हिला देगी, इतनी गहरी इतनी तीव्र। और अधिकांश में युवतियों का यह निखार सबमें एक-सा। किन्हीं विशेष नेत्रों से इन्हें देखा जाय तब कुछ और दिख सकता है; पर ईमानदारी की दृष्टि में यह सौन्दर्य कितना अकलुष है, यह शालीनता कितनी श्लाघ्य है। पर कितना आकर्षक है, विकर्षण भी शायद हो पर संतुलन में खिंचने-वाला शायद मनुष्य ही है, नारी नहीं।

नहीं तो मैं ऐसा क्यों हो गया? नारी को, युवती को निकट से पहिचानने गया; पर दूर से भी अधिक दूर या पास से भी अधिक पास होने पर द्वेष न मिटा, कोई मिटा न सका, शायद यह कभी न मिटता हो, यह आकर्षण और विकर्षण ही क्रिया है, इन दोनों के बाद या भीतर कुछ नहीं।

...जय शोभा को देखते-देखते कितनों को देख गया, रजनी को प्रतिमा को, शशि को। पर फिर नाटक के नकली चेहरे बदल गये, जय के सामने शोभा आ गई, एक अपरिचित, जिसके विषय में वह बिल्कुल नहीं जानता; पर जानने न जानने से क्या होता है? कुछ बिना जाने ही निकट आ जाते हैं और कुछ जाने हुए दूर हो जाते हैं।

'नींद आने लगी'—उसने पूछा था।

'हाँ, तो'—शोभा ने जम्हाई लेते हुए कहा...फिर बोली—'सफर में सोने में बड़ा कष्ट होता है, आपके पास वह मासिक-पत्र था न, दे दीजिये।'

जय यह सोच रहा था कुछ और बात करूँ पर क्यों ? आखिर क्या लाभ ! यह प्रवृत्ति उसकी पुरानी है, समाज की रुढ़िवादी भावना उसमें जाने क्यों घर कर गई है, ना ी से क्यों बोला जाय, वह इसलिये नहीं है, न हँसने के लिये और न खुश होने के लिये। वह इन सब बातों को नहीं मानता--पर क्या करे, कैसे बोले ?

और जय सोचता ही रहा, उसे कुछ मिला नही। कुछ लोग कहते हैं सोचना नही चाहिये, सोचने से कोई उलझन सुलझ नही सकती, वह तो क्रिया से सुलझती है; पर बिना सोचे कैसे रहा जा सकता है, यह बात बहुत छोटी है वह भी ो क्षण की, बारह पन्द्रह घण्टे के बाद कौन कहाँ होगा किसे मालूम ?

'बी० ए० इस साल कर रहीं हैं'--वह बोला।

'हाँ, और आप...'

'मै तो अब पढ़ता नही हूँ, पढ़ाता हूँ, प्रोफेसरी का काम करता हूँ।'

तब जय ने देखा शोभा को विश्वास नहीं हुआ, इतनी छोटी आयु में प्रोफेसर ! वैसे पर्सनैलिटी तो है; पर उमर कम है, जैसे कम उमर में कोई बड़ा काम नहीं हुआ हो या आज लोग नहीं करते।

'क्यों ?'

'कुछ नहीं, तब तो आ...!'

'आप क्या ?'

'आप यदि दिल्ली ही रहते होते तो मुझे बड़ी मदद मिल जाती।'

वह मन ही मन हँस पड़ा, संसार का प्रत्येक व्यक्ति साथी ढूँढ़ रखना चाहता है, चाहे किसी भी काम में उसका सहयोग क्यों न हो; पर बड़े-बूढ़े उसे चेता देना चाहते हैं, शायद उन्हें कोई ठोकर लगी हो पर जय को तो नहीं लगी थी।

'मैं तो पूना में रहता हूँ और मार्ग में मिल जानेवाला कब तक साथ दे सकता है?'--उसाँस-भरी आवाज में उसके मुँह से ऐसे ही शब्द निकल पड़े, तब वह देखता रहा शोभा पर उसकी वेदना का कुछ असर हुआ है, शायद प्रत्येक पर होता हो पर कुछ उसे दबा देते हैं, कुछ प्रकट कर देते हैं।

और फिर कितनी ही बातें चल पड़ीं, शोभा जैसे खुल पड़ी थी पर जय अपने आप में कुछ सोचने लगता—और सोचने के लिये कोई एक बात हो, अनेक बातें थीं और अनेक रूप थे।

रात के बारह बज गये, तब गाड़ी एक बड़े जंकशन पर ठहर गई, वह बोला—"कुछ पिओगी तो मँगाऊँ? चाय..."

'क्या करना है?—उसने बड़ी सहज मुद्रा में उत्तर दिया, पर उसकी आँखें पत्रिका के काले-काले अक्षरों पर जमीं हुई थीं, शायद मन कहीं और हो, वैसे मन चंचल ही तो है। पर यह चंचलता गलत भी नहीं है और बुरी भी नहीं। वह यही सोचता रहा।

जय ने चाय मँगवा ली थी और तब शोभा ने भी कुछ खाने की सामग्री निकाली, कुछ विचित्र बात उसे मालूम हुई, दिल्ली में लोग इसे बुरा नहीं समझते। यह तो सभ्यता है पर हमारे गाँव में अगर दो युवक और युवती एक दूसरे को देखते भर पाये जायँ तब जैसे बड़े अपराधी हैं, फिर लोग किस बात को नैतिक और अनैतिक समझते हैं...समझ में नहीं आता।

तब आधी रात के बाद शोभा सो गई थी, उसकी चोटी की एक धारा मेघ-खंड को शृंखला-सी आकाश-कुसुम के कपोतों को छूती हुई लापरवाही से पड़ी थी, साँसें भरने से उसका शरीर भी उभर आया था, तब जैसे शोभा और अधिक सुन्दर लग रही थी। जय को नींद नहीं आई पर जैसे विरक्ति हो आई हो, वह ऊपर की सीट पर चला गया और लेट गया। 'यह बात आज छोटी है पर बड़ी हो सकती है, और क्या शोभा को भ्रम में नहीं डाला जा सकता, शायद मेरी उदासीनता से ही शोभा समझती है—मैं उसकी मित्रता के योग्य नहीं...पर यह बात सच भी है, लोग कैसे होते हैं कि राह चलते मित्रता कर लेते हैं! फिर उनके संबंध भी बन जाते हैं—एक-दूसरे के निकट भी आ जाते हैं। पर जो लोग ऐसा कहते हैं वह सही नहीं मालूम पड़ता, नारी ऐसी नहीं है, और पुरुष भी तो कुछ है, जब कुछ नहीं रहता, या रहने नहीं दिया जाता तभी नारी चकले में जा बैठती है और पुरुष गुंडा घोषित हो जाता है।'

सुबह उठ कर जय ने पूछा--'तो दिल्ली आ गई।' शोभा तब जग पड़ी थी और उसके शोर करने से सब की आँखें खुल गई थी। फिर जय को उतरना जो था, पर वह उतरा नहीं था, दिल्ली जंकशन पर पहुँच कर सब लोग उतरे। तब जय अनुभव कर रहा था--यदि यह आकर्षण इतना तीव्र है तो फिर स्थायी क्यों नही होता? शोभा को मैं नही जानता था मैं संसार में जानता कितनों को हूँ! अभी कितने अधिक लोग अपरिचित हैं, पर जैसे मानव-मानव अपने आदिकाल से एक-दूसरे से परिचित है, तभी तो साक्षात्कार भर होने पर वह खिचता है, खिचता ही जाता है।

चोपड़ा जी ने जय को अपना पता दिया था, पर जय यह सोच ही नहीं पाया था कि वह वहाँ जायेगा भी अथवा नही, वैसे शायद वह पहुँच जाता पर शोभा जो थी, शोभा को देख कर वह कुछ सोचने क्यों लगता है, युवती है और अविवाहित। वह उनके घर नहीं जायेगा, यद्यपि शोभा ने भी कहा था, थोड़ी देर के लिये ही क्यों नहीं--उसे वहाँ जाना चाहिये।

और जब जय कुली को ले कर अपना छोटा-सा सामान समेटे शैलेन्द्र के मकान को ढूँढ़ रहा था, तब वह कुछ असमंजस में था और कुछ बातों को भुला रहा था--उस अपरिचित नारी ने जब उसे मकान का ठीक पता दे दिया तब वह दरवाजे पर पहुँच गया, पर उसके सामने वही बात एक समस्या बन गई थी, उसने सुना था बड़े शहरों में और खास कर बम्बई, दिल्ली में एक-दूसरे के पड़ोसी उनसे परिचित नही होते पर यह नारी शैलेन्द्र कुमार को जानती है, शायद परिचित हो। सब लोग मतलब, दोस्ती या काम में ही एक दूसरे को जानते है। व्यर्थ में जान-पहिचान करने का उन लोगों को अवकाश नहीं होता।

और दुराशाओं के प्रतिकूल शैलेन्द्र मिल गया, जय को देख कर उसके गले से चिपट गया।

'पर खूब रहे, मित्र! एक कार्ड तो डाल दिया होता, मै स्टेशन पहुँच जाता, तुम्हें यहाँ आने में बहुत तकलीफ हुई होगी?'

और जय भी गद्‌गद् हो गया था। पुरानी बातें और गहरी उमड़ती आ रही थी--जैसे कल की हों! शैलेन्द्र अभी भी नही बदला, कुछ लोग

कितनी जल्दी बदल जाते हैं, पर वे शायद कुछ होते नही है। उन पर किसी का भी रंग चढ़ जाता है, पर जो कुछ होते हैं व बने रहते हैं।

जय ने कहा--'मजे में तो हो?'

'बिल्कुल! जैसे पहिले था--अब हूँ, चलो पहिले नहा-धो लो, फिर बात करेंगे। अच्छा हुआ तुम आज आ गये, मैं दो-एक दिन में बाहर जा रहा था, अब नहीं जाऊँगा।'.

'तो...!'--जय ने घर के भीतर प्रवेश करते हुए कहा।

'तो क्या?'

'अकेले हो, रीता नहीं है?'

'हाँ लेने ही तो जा रहा था...'

जय सफर में थक गया था, इसलिये नहा-धो कर उसे कुछ थकान अधिक मालूम पड़ रही थी, फिर भी वह शैलेन्द्र से बात करने को अधिक उत्सुक था और शैलेन्द्र उसके नाश्ते का इन्तजाम कर रहा था, जय मेहमान जो था--'अतिथि का स्वागत तो होना चाहिये और उसका, जो आज कुछ है, और जिसे इतने बार बुलाया तो आज जाने कैसे यहां के लिये भूल पड़ा हो? पता नही क्या सोचता रहता है, शायद पहिले भी और अब भी!'

शैलेन्द्र जय को जानता है, जानता ही नही जय का मित्र है, बचपन का, एक साथ धूल में लोट कर दोनों ने सुनहरे दिन बिताये, लड़-झगड़ कर किशोर अवस्था और प्रगाढ़ स्नेह में यौवन। शैलेन्द्र ने दिल्ली में नौकरी कर ली। लगभग तीन सौ कमा लेता है, अभी-अभी उसका विवाह भी हुआ है, जय उसे भी जानता है। शैलेन्द्र अब गृहस्थ बन गया था पर वैसा ही था--'लोग उसकी पोजीशन बनाते हैं। ऐसा कुछ प्रारम्भ करते हैं, जिसमें व्यक्ति बनता है पर मैं व्यक्ति को मिटाने पर क्यों उतारू हो गया हूँ? तभी जैसे जो मेरे संपर्क में आता है, चौक पड़ता है दूर हो जाता है; पर यह उचित तो नहीं है, व्यक्ति बने रह कर ही समाज के लिये कुछ किया जा सकता है, पर व्यक्ति बनने के बाद समाज का ध्यान कितने अंशों तक बना रहेगा, इसकी क्या गारंटी है?' जय इसी पर सोचता था 'वही

क्रिया भी करना चाहता था तभी अव्यवस्थित हो जाया करता। बहुत कम लोग उसकी यह बात जानते थे; पर शैलेन्द्र जानता था इसलिये उसका ध्यान रखना उसका मुख्य कार्य बन गया था। जो अपनी सुधि नहीं रखता उसकी सुधि दूसरे लोग रखते हैं; जो स्वयं भूल जाना चाहता है उसे और लोग याद रखते हैं और जो कुछ नहीं रहना चाहता उसे ही लोग तब महत्त्व प्रदान कर देते हैं—यह बात पता नहीं कितने अंशों में सत्य है पर जय इसी को सत्य मानता था और अपने को मिटाने पर तुल गया था।

दिल्ली में दिन चढ़ते-चढ़ते भीड़-भाड़, मोटरों की पों-पों और ट्राम की खटर-पटर प्रारम्भ हो जाती है और जैसे-जैसे दिन बढ़ता जाता है, इसकी गति तीव्र से तीव्रतर होती जाती है, फिर रात तक वही लोग काम में लगे रहते हैं, पर थकते नहीं। वहाँ थकान का क्या काम है? थकान का अर्थ है मृत्यु, और जीवन से ऊब कर जीवन का आनन्द नहीं लिया जा सकता। जीवन भोग के लिये है और इस जड़ संसार में भोग के द्वारा चेतनता आती है, फिर कर्म होता है। कर्म के पश्चात् भोग और फिर जड़ता। दिल्ली में जैसे जड़ता के लिये अवकाश ही नहीं; वहाँ तो सब कुछ भोग था, कर्म था, यह बात जय ने स्टेशन पर उतरते ही देखी थी और सड़क पर स्थित शैलेन्द्र के दुमंजिले मकान की खिड़की से भी यही देख रहा था, तब वह आधा सोया हुआ था, पर जग भी रहा था।

वह इसी कर्म को देखने वहाँ आया था। जैसे पूना में भी कोई कम क्रिया नहीं है; पर पूना की क्रिया कलात्मक है, वहाँ कुछ और है जो अन्य स्थानों पर नहीं है। फिर उसके लिए बहुत अच्छा जो कलाप्रिय हो आधुनिक हो, प्राचीन वहाँ हेय है। 'और दिल्ली दिल्ली है, विस्तृत फैली हुई। किसी नगर की किसी से क्या तुलना, आदमियों की भी कैसी? जय देख रहा था—प्रत्येक नारी दिल्ली में शोभा के समान ही है, माँ भी वैसी हो और पिता भी वैसे ही। सब एक से, ऊपर से कम से कम सब एक से। भीतर की बातें पता नहीं लगाई जा सकतीं पर शायद अर्थ का वह विशेष महत्त्व है, फिर रूप और शृंगार का, यहीं पर इतिश्री भी है। तभी किसी के कर्म की सराहना करना यहाँ लोगों को अधिक आता है, उसके लिये खुद कुछ करना कठिन है।'

'पर शायद मैं गलत ही सोचता हू, सब जगह सब प्रकार के व्यक्ति रहते है, अच्छे-बुरे व्यक्ति की कोई खास पहिचान तो नहीं है, यह वृत्तियाँ तो उत्पन्न होतीं हैं, पैदा की जा सकती है, संस्कार और परिस्थिति से आदमी बनता है और आदमी से समाज। समाज संस्कृति के रूप में जड़ें जमाता है और बाह्य रूप में सभ्यता बिखर उठती है, यहाँ जैसे सब कुछ सभ्यता है, संस्कृति सभ्यता की चकाचौंध में दब गई है; पर यहाँ इनका भी कोई पृथक मान नहीं है।'

नये-नये सालुओं में अपने यौवन को बिखेरती अनेकों युवतियाँ उसके सामने से निकल रही थी, उन्हें कोई क्यों न देखे जब उन्होंने ऐसे ही उपकरण जुटा रखे है—ऊपर से जितना भी आकर्षक सजाया जा सकता था, सब था। कुछ दो-दो, चार-चार, कुछ सायकलों पर कुछ पुरुषों के साथ पर सब कुछ लेती देतीं। जय देखता रहा, नीद में उसे ऐसा मालूम हुआ वह दृश्य समाप्त नहीं होगा, स्वर्ग की बात सुना करते थे, लोगों ने भोग की तृप्ति के लिये, धन के ऐश्वर्य के विस्तार के लिये यहीं स्वर्ग उतार लिया तो कोई बड़ी बात नही... कुछ देर बाद उसकी आँखें झप गई थी।

●

दो . . .

'मनुष्य का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है, प्रत्येक क्षण मूल्यवान्...पर यह महत्त्व क्या है और इसका मूल्य कैसे आँका जा सकता है? पृथक्-पृथक् देशों में महत्त्व और मूल्य के मान पृथक् हैं, गाँव और नगर के भी पृथक्, तभी तो शहर में जीवित रहने के लिये इतना श्रम करना पड़ता है कि जीवन जीवन नहीं रह जाता और गाँव में श्रम इतना सीमित है कि जीवन का स्वरूप बहुत संकुचित और सीमित हो गया है, इस बात को ले कर

कुछ लोग कह देते हैं--'यही तो इस जगत का संतुलन है, अति क्रिया और अल्प क्रिया, दोनों की स्थिति आवश्यक है'--पर यह बात जय की समझ में इस ढंग से नहीं आती, आये यह कोई जरूरी भी वह नही समझता। 'ऐसा दर्शन केवल सोचने भर के लिये है, कुछ करने के लिये नहीं।' पर इन सब बातों पर सोचते-सोचते कभी-कभी वह पता नहीं क्या सोच बैठता है। जब वह किसी बात के छोर पर पहुँचता है तब जैसे वह घबरा उठता है। फिर सुस्त हो कर आँखें बन्द हो जाती हैं, और तब सोने-जागने भी उसे चैन नहीं मिल पाता।'

ऐसी ही नींद में शैलेन्द्र ने उसे जगा दिया। वह भी परेशान हो उठा था, दिन के दो बज रहे थे पर जय की नींद ही न टूटती थी। भोजन तो वैसे ही ठंडा हो गया था, शायद बेस्वाद भी। होटल का जो ठहरा। फिर जब उसका संतुलन टूट गया तो उसने जय को जगा दिया। जय फिर लौट आया था--वहीं, जहाँ वह उतरा था--जहाँ उसे आना था। स्वप्न से सत्य पर, स्वर्ग से पृथ्वी पर।

शैलेन्द्र ने बतलाया कि यदि जय कह ` तो वह रीता को ले आये--दो दिन में लौट आयेगा पर जय वहाँ केवल दो दिन ही ठहरना चाहता था, इसके बाद वह कहाँ जायेगा यह वह निश्चय नहीं कर पाया था; पर भागने की यह तीव्रता उसका स्वभाव बन गई थी। जितने दिन में वह सोच ही न पाता था उतने से कम दिन कहीं टिक पाता पर, फिर उसे याद आया था--उसने तो शोभा से कहा था कि लगभग सात दिन ठहरेगा और वहाँ भी जायेगा...

'पर कौन शोभा?'

'मार्ग में मिलनेवाली एक अपरिचिता अथवा नारी, रूप-सौंदर्य की दीप-शिखा! एक स्निग्ध आकर्षण की तरलता; पर कुछ नहीं, कोई नहीं, यदि मेरी उससे भेंट ही न होती तो?'

'तो क्या होता। प्रत्येक व्यक्ति बना रहता है, पर संपर्क में आने पर उसके अस्तित्व का ज्ञान होता है, निकटता बढ़ने पर उसका महत्त्व भी। इसलिये व्यक्ति मित्र बनाता है पर सबके लिये एक-सा नहीं होता। किसी

के लिये जीवन की बाजी लगा देता है, किसी के प्रति उदासीन रहता है और किसी का अनिष्ट भी कर सकता है।'

परन्तु यह करने की क्रिया उसकी नहीं होती, कुछ भाग उसका रहता है, कुछ और बातें हैं, जो अपना महत्व रखती हैं, शायद इसीलिये शोभा से भेंट हो गई। कितनी ही यात्राएं कीं, कितने ही मित्र बने; पर इतने अल्प समय में यह घनिष्ठता क्यों हो गई? जय इस संबंध में निश्चिन्त नहीं था। अपनी संपूर्ण सहृदयता में भी वह निर्बल और तटस्थ था--पर दूसरे के विषय में अपना अविश्वास कैसे बना ले।

...एक दिन ऐसी अनजानी अवस्था में प्रतिमा उसके निकट आई थी। तब वह बी० ए० में पढ़ता था, वह उसकी ही क्लास में पढ़ती थी।

'मुझे आपके नोट्स चाहियें।'

'पर मेरे पास तो नहीं हैं, मैं नोट्स कहाँ तैयार कर पाता हूँ।'

'फिर भी कुछ तो होंगे। देखिये मुझे इस वर्ष बहुत डर मालूम हो रहा है, मैं फेल हो जाऊँगी।'

जय ने उसे टाल दिया था, पर यह स्निग्धता--जहाँ स्वार्थ का आवरण पहिन ले, वहाँ पर रहती कहाँ है? लेन-देन को छोड़ भी दो पर केवल किसी हेतु तक ही सीमित रहे वहाँ भी लोग उस आकर्षण को खिंचाव, खिंचाव को समर्पण और समर्पण को प्रेम समझ लें, तो कितना गलत होगा? यह गलती लोग करते हैं, और सोचते हैं वे सही हैं, और लोग उनके विचारों तक नहीं पहुँचते, इसीलिये जय प्रतिमा से दूर रहा; पर प्रतिमा के साथ और लोगों ने यह समझा--जय और प्रतिमा बहुत कुछ एक ही हैं; नकट, निकट ही नहीं शायद एक-दूसरे को चाहते भी हैं।

पर जय ने यह कभी नहीं सोचा था। उस वर्ष यह बात उसे अच्छी लगी। लोग यह सोचते हैं कि प्रतिमा केवल उसकी ही बात मानती है--कितने गर्व की बात है पर वह यह न सोच सका--प्रतिमा उसकी है? कौन किसका होता है, लोग उस पर एक सील लगा कर रखना चाहते हैं। यही तो एक झगड़ा है, यही तो अपने-आप स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है कि कौन किसका है?

और यह चाहना क्या है ? क्या वह चाहता था कि वह प्रतिमा पर अपना अधिकार रखे--पर अधिकार तो सब कुछ नहीं है। वह उसे क्यों नहीं मिला जो वह चाहता था ? चाहता होगा शायद समर्पण--समर्पण ! अद्वैत परिणति जहाँ दो होंगे, वहाँ एकाकार कैसे हो सकते हैं ? जहाँ एक होगा पर दो आकारो में, तब एकाकार हो सकता है। जय और प्रतिमा का यह क्रम दो वर्ष तक चला। इस बीच में उसने नारी की बहुत-सी दुर्बलताओं को पहिचान लिया पर पहिचानने से क्या होता है। उन दुर्बलताओं के बाद भी वह दूर नहीं हुआ। उसने अनुभव किया ये दुर्बलताएँ उसकी विशेषतायें हैं। यदि वह न हों तो उसे पूछे कौन ? और जिसकी पूछ होती है उसमें कुछ होता तो अवश्य है।

किन्तु प्रतिमा भी ठीक वैसी ही जय के जीवन में आई, जैसे मेघ-खण्ड के आवरण में चन्द्रमा, कुछ छिपा हुआ, कुछ दिखनेवाला--पर यह तो जब हुआ जब जय कुछ समझने लगा था और इसलिये सतर्क भी था कि कहीं कोई भूल न हो जाय। नहीं तो जीवन भर उसका भुगतान देना पड़ेगा इसीलिये वह दुखी था। उसका हृदय सदैव पीड़ा से भारी बना रहता था--आखिर वह क्यों है, वैसा बिल्कुल अलग-थलग। जब जय और प्रतिमा की सीमायें कुछ कम हो गईं, तो यह प्रश्न प्रतिमा ने भी किया--

'आखिर क्या बात है, आपकी मनःस्थिति समझ में नहीं आती।'

'क्यों ?'

'मित्र कहते हैं इसीलिये और मैं भी तो देख लेती हूँ।'

'पर यह बात नहीं है, प्रतिमा ! मेरे भीतर-बाहर कोई पृथक् द्वन्द्व नहीं है, द्वन्द्व यदि है तो भी एक ही, पर इस--बात से तुम्हें क्या मतलब ?'

और तब प्रतिमा चौंक पड़ी थी--'यह व्यक्ति इतना आत्म-केन्द्रित है, उसकी बातों का किसी से क्या मतलब ?'

जो प्रतिमा चाहती थी, जय वह नहीं कर सका। पर यौवन की सलज्ज मादकता में बिछलन की स्निग्धता कितनी सफाई से मिली रहती है, वहाँ से निकल सकना कितना कठिन है यह बात जय ने शैलेन्द्र से भी कही थी; पर शैलेन्द्र ने उसका खूब मजाक उड़ाया था। तब शायद वह

इसे सच मानता था, वहीं पर आ कर चरित्र निखरता है, ऐसा कुछ-कुछ उसका विश्वास था पर चरित्र क्या है ? क्या इतना सा, पुरुष और नारी तक सीमित। एक-दूसरे से बँधा हुआ--वर्गगत ! व्यक्तिगत या समाजगत--नहीं।

शैलेन्द्र ने जब उसे झकझोर कर उठा दिया, तब जय सतर्क हो गया। पिछली बातें एक बिजली की चमक की भाँति विस्मृत हो गईं जैसे वह फिर नया हो आया हो--पुराना नहीं। बिल्कुल नया !

'खाना'--शैलेन्द्र ने कहा।

'हाँ भाई, बड़ी भूख लगी है, और बहुत खूब--तुम भी पतिव्रता नारी की भाँति भूखे रह कर मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे !' वह हँस पड़ा। यह बात शैलेन्द्र को चौंका देनेवाली थी।

'पर यह बताओ, यह गपशप क्या पूना से ले आये हो। पहिले तो कभी मनहूस जिन्दगी में दो क्षण मुस्कराये भी नही।'

'अरे भाई ! कभी-कभी दुःख का अतिरेक हँसी में बदलना पड़ता है; नहीं तो दम न घुट जाये, जिन्दा कैसे रहें ?'

बीच-बीच में बातें चलती रहीं और खाना भी। वर्षों बाद एक साथ दोनों ने भोजन किया था। वैसे ही जैसे, वे लोग किया करते थे। घर की जिन्दगी से दूर तो रहने की उन्हें आदत पड़ गई थी और धीरे-धीरे वह आदत उन्हें इस योग्य बना रही थीं कि वे घर के योग्य पुनः बन सकेंगे। यह भी एक प्रश्न ही था। शैलेन्द्र ने बात प्रारंभ करते हुए पूछा--'पिता जी कहाँ हैं ?'

'गाँव। सब लोग गाँव पर रहते हैं शैलेन्द्र ! उन्हें शहर की जिंदगी से चिढ़ है, इसलिये ही तो उनका कहना है मैं भी गाँव पर रहूँ, वहीं काम देखूँ।'

'भाभी ?'

'तुम्हारी भाभी भी वहीं हैं, उनके लिये भी वही स्वर्ग है, मनुष्य की भावनायें कैसी होती हैं, सास-ससुर की सेवा से विरत होकर पति की बहुत ऊँची प्रतिमा से दूर रह कर वह कभी सोच ही नहीं सकती। मैंने

कहा भी, मेरे साथ चलो, तुम जितनी सरल और सुन्दर हो, संसार कैसा है उसे देख लो। कर्म तुम्हारा लक्ष्य है, संसार के लोगों का भी है; पर कितना अन्तर है, तुम कितनी प्रसन्न हो—लोग कितने दुखी हैं। मुन्ना अच्छा है।'

शैलेन्द्र को उसकी बातों पर आश्चर्य नहीं था। आश्चर्य की कोई बात भी तो नहीं थी। जय के पिताजी गोधारमण मधुवापुर के जमींदार तो नहीं थे, पर बड़े काश्तकार अवश्य थे। जिन्होंने अपने बल पर एक बड़ी जायदाद खड़ी कर ली थी, समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, पास-पड़ोस में ही नहीं, जाति-बिरादरी में भी दूर-दूर तक उनका बड़ा सम्मान था। राज में, प्रजा में, सब में। अब तो उमर ढल चुकी थी पर अपनी युवा-अवस्था में ही उनका दबदबा कम न था। जय उन्हीं का सातवाँ लड़का था। परिवार में सात-भाई बहिन थे, सब विवाहित। जय सबसे छोटा था। दो बहनें थीं।

बड़ी मुश्किल से जय अपनी पढ़ाई चालू रख सका। बी० ए० में आ कर तो बिल्कुल प्रतिबन्ध लग गया। बी० ए० में आते-आते उसका विवाह हो गया था। पहिले जय सोचा करता था—'यह बुरा हुआ। पर जब रानी ने अपने आपको अपने पति से एकरूप कर लिया, तब उसे विश्वास हो गया—'जो होता है अच्छा ही है। रानी देवी है, वह सारे परिवार को सम्हाल सकती है, वह गृहस्थ है, मान-मर्यादा, जाति और स्त्री होने का उसे गर्व है। वह ज्ञात-अज्ञात में उसी की रक्षा में लगी रहती है।' पर वह यह सब कुछ नहीं कर सकता, वह कुछ नया चाहता है। ऐसा नया जो विकास दे सके, उन्नति भी! लेकिन वह समाज और व्यक्ति दोनों की रूढ़ि के आगे हार जाता है, वहाँ से भाग खड़ा होता है और मॉडर्नवाले उसकी बात सुन कर नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं।

'कालेज कैसा है?' शैलेन्द्र ने रोटी परोसते हुए कहा—'सुना है वह जगह कला के लिये प्रसिद्ध है और फिर प्रत्येक स्थान की अपनी विशेषता रहती है।'

जय हँस पड़ा, वह एक क्षण चुपचाप सोचता रहा—क्या उत्तर दे?

'कालेज बहुत अच्छा है, कला के स्थानों में तो नहीं, पर आधुनिक सभ्य नगरों में उसका नम्बर पीछे नहीं है। पर यह काम बड़ा सुस्त है, जैसे जिन्दगी में कुछ नहीं।'

शायद वार्तालाप में अब वह आनन्द नहीं रहा था, पर जय के हृदय से बरबस ही कुछ फूटना चाहता था। वह अपने काम से सन्तुष्ट नहीं था! कितने मनुष्य अपने आप में सन्तुष्ट रहते हैं--प्रत्येक को दूसरे का काम अपने से अच्छा और सुख देनेवाला समझ में आता है और मनुष्य काम क्यों करता है? आनन्द और सुख के लिये, पर जहाँ आनन्द और सुख नहीं मिलता वहाँ भी करता रहता है। पहिले नौकरी पर जाने के समय जय के मन में बड़ी उमंग थी बड़ा उत्साह था, पर वहाँ जा कर धीरे-धीरे सब मर गया। वह वर्ग जीवन में अधिक से अधिक समय आराम से बिता देता है, इसलिये जैसे क्रिया मर जाती है। क्रिया स्वयं सुख है और उसके समाप्त होने के बाद मनुष्य आनन्द से कैसे रह सकता है? पर शायद जय का यह विचार बहुत ही सीमित था। प्रत्येक काम अपनी योग्यता भर करने से आनन्द देता है, उसे टाल देने या समय काट देने से तो उसका वास्तविक रूप ही नष्ट हो जाता है।

'प्रोफेसरों का जीवन कितना अव्यवहारिक होता है यह मैंने वहाँ रह कर देख लिया। बुद्धिवादी जीवन में अपनी बात के आगे वे किसी को कुछ समझते ही नहीं--अपने अनुभव को इसी तुला पर तौलते हैं। दिन भर में दो घंटे भी नहीं पढ़ाना पड़ता, पर जैसे दिन भर बिना काम के व्यस्त रहते हैं। वहाँ देश, समाज और व्यक्ति की काल्पनिक सत्ता है, जो लिखते हैं उसे सुलझाते रहते हैं; पर अपने आराम को छोड़ कर कर्म कौन करे? मैं पहले तो वहाँ घबरा गया शैलेन्द्र! कैसे दिन-रात कट जाते हैं--फिर मित्र बनाना पड़े; पर वास्तव में बनावट का सब काम ही ऐसा होता है।'

शैलेन्द्र ने टोक ही दिया--'तुम तो कहा करते थे कि पढ़ने-पढ़ाने का काम ही एक श्रेष्ठ काम है, जिसके द्वारा व्यक्ति स्वयं कुछ बन सकता है और दूसरे को भी बना सकता है। और भाई हम तो फाइलों के कीड़े हैं, फिर ये फाइलें चाहे बड़े पदवाले के पास हों चाहे छोटे पदवाले के

पास। पर इस आदमी को सब मिटा देना पड़ता है, दूसरे कामों में अपने आप मिट जाना पड़ता है।'

'वैसे तो ठीक है, प्रत्येक काम न अपने आप में खराब और न अपने आप में अच्छा ही है; क्या बताऊँ, जो सोच कर घर छोड़ इतनी दूर गया था वह न कर सका शैलेन्द्र! अब लिखते नहीं बनता, लिख ही नहीं पाता, कुछ टूटा-फूटा जोड़ दिया तो लोग समझते हैं क्या सुन्दर रचना है; पर मन कहता है अब सब मर गया--शायद इसलिये कि किसी ने मेरे विश्वासों को बदल दिया या यह कहो, विश्वास हार गया--अविश्वास जीत गया!'

फिर जय चुप हो गया जैसे कोई गहरी चोट हो, वह कहना तो चाहता था पर मुँह खुलना नही चाहता था। शैलेन्द्र ने भी उसकी इस व्यथा को देखा पर कहा कुछ नही, जैसे वह जानने का अभिनय कर रहा हो--उसको भी, जय को भी और उसकी मान्यताओं को और विश्वासों को। कुछ बातें जानते हुए भी उस अप्रिय बात को सुनने की उत्सुकता बतलाना नही चाहता था, तब क्या किसी ने कुछ ऐसा कर लिया जो उसे न करना चाहिये था!

शैलेन्द्र जय के कुछ मित्रों को, परिचितों को जानता था--'प्रतिमा उसकी सहपाठिनी थी, दूसरी लता उसी के मकान के पास रहने वाली बालिका थी, जहाँ सबसे पहले जय ने उसे देखा था। जब वह दसवी क्लास में पढ़ता था तब वह आठवीं में पढ़ती होगी, मेरे घर में वह बहिन के नाम से पूजी जाती थी, और जय का कोई घर-द्वार तो वहाँ था ही नही, एक कमरा ले कर वह एक रिश्तेदार के यहाँ रहा करता था। हमारा गाँव का रिश्ता ही शहर का घर-द्वार बन गया था पर लता का क्या हुआ, अभी कई दिनों से उसका कोई समाचार नहीं मिला!'

'खैर'--शैलेन्द्र ने उसकी बात को टालते हुए कहा--'छोड़ो भी, फिर बैठकर बातें करेंगे--चलो, हाथ धो लें और हाँ, दिल्ली पहिली बार आ रहे हो ना?'

'और नहीं तो क्या भाई?'

'तो कुछ घूमोगे नहीं, देखोगे भी नहीं? चलो तैयार हो जाओ, मैं सायंकल ले आता हूँ। एक या दो।'

'एक कैसी।'

'अरे भाई डबल चल सकते हैं, यहाँ कोई रोक-टोक नहीं है, इतने बड़े शहर में; पर छोटे-छोटे नगरों को तो हर चौराहे पर पुलिस को सलामी देनी पड़ती है। हाँ—तैयार...जल्दी!'

तब जय ने अनुभव किया, उसकी यह सुस्ती अच्छी नहीं है, शैलेन्द्र जाने क्या समझ बैठे। वह वहाँ से उठ बै ा और अकेले उस कमरे में थोड़ी देर गुनगुनाता रहा। कुछ देर के बाद, वह तैयार हो गया था।

घर से निकल कर जब वे दोनों सड़क पर आये तब चार बज रहे थे—सन्ध्या को रागारुण लालिमा अभी किसी के आगमन की प्रतीक्षा में पट बन्द किये बैठी थी। बाहर वैसी ही सायँ-सायँ थी, पर जैसे वही जंगलों में भयदायिनी तथा नगरों में जीवन-दायिनी प्रतीत हो रही थी। भीड़ बढ़ रही थी जैसे दिल्ली में साँझ के समय कोई घर में तो रह ही नहीं पाता—वहाँ इकाई को कोई बाँध कर रखना चाहता हो और वह सम्पूर्ण अनुत्तरदायित्व के साथ सब बन्धन तोड़ कर सैर करना चाहती हो—इसी स्वाभिमान में टोल के टोल घर से बाजार की ओर निकल पड़े थे। चाँदनी चौक पर पहुँचते-पहुँचते साँझ ढल आई थी—पर साँझ लगती कितनी प्यारी है! वहाँ अपनापन मालूम पड़ता है—वह अपनापन, जैसे कोई पुराना कई दिनों बाद मिल जाये। सब विकेन्द्रित अणु एक-दूसरे की ओर खिंचे चले जा रहे थे कभी रगड़ खा जाते थे, पर फिर भी एक न हो पाते थे। शायद उसी में उनकी भलाई हो, एक होने के पश्चात् दो में से एक का अस्तित्व तो समाप्त हो ही जाता है। जय भी अपने में एक शक्ति का अनुभव कर रहा था। वहाँ साहस था, शोभा थी, सौंदर्य था, जय की भावना में सबका समावेश था; पर जय में भीरुता भी थी, अशोभनीय भी कुछ था और कुरूप भी कुछ। लोग केवल सौंदर्य देखते हैं, शोभा की प्रशंसा करते हैं और साहस को दाद देते हैं, पर जय सौंदर्य के साथ कुरूप को क्यों देखने लगता था, शोभा के साथ अशोभन क्यों जोड़ लिया करता था—और साहस के स्थान पर भय की कल्पना क्यों कर लिया करता था? यह बात तो उसको भी स्वयं समझ में न आ पायी थी पर कुछ

लोग ऐसे भी होते हैं। और होने की क्या बात है। यह संसार इसी विचित्रता का संकलित प्रदर्शन है, तभी एक अपने-आप में इतना शंकाकुल है तो दूसरा विश्वस्त, एक साधारण-सी बात भी सहन नहीं कर सकता तो दूसरा कड़ुवा घूँट पी कर भी प्रसन्न है, एक अपने सीमित दायरे में दूसरे के ऐश्वर्य को देख कर सराहना करता है तो दूसरा असीमित रूप में उपलब्ध ऐश्वर्य को—दूसरे को समाप्त कर—बढ़ाने की योजना कर रहा है। और सब काम जैसे किसी न किसी के पूरक हैं।

ऊँचे-ऊँचे तीन-चार मंजिल के मकान, कुछ पुराने और कुछ नई चाल के, उनके नीचे सजी हुई दूकानें, चमक-दमक, भीड़-भाड़—सब कुछ एक विधि में बँधा हुआ-सा। खाकी और सफेद वर्दियों में सिपाही, कोट और पैण्ट, धोती और कुर्ते में आदमी, सलवार और साड़ी में औरतें। फुटपाथ पर कितने ही दूकानदार अपनी ईमानदारी की दाद में बड़े ऊँचे स्वर में अपनी प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं। एक ओर मोटर, बसें, बढ़िया-बढ़िया कारें, खटर-पटर करती हुई ट्राम! तेजी से सायकिल दौड़ानेवाले कालेज के लड़के, और लिपिस्टिक और पाउडर की महक छोड़ती हुई लड़कियाँ—पर कोई किसी से बोलता नहीं है, देख भर लेना कोई गुनाह नहीं, फिर सब अपने-आप में कुछ। जय किसी एक को देखता तो देखता ही रह जाता, तब जैसे कुछ सोचना चाहता हो—'यह क्या है, क्यों है? और कैसे है?' ऐसे लोग बहुत जल्दी परदेशी होने का सबूत दे देते हैं। तभी शैलेन्द्र को टोकना ही पड़ा—

'भाई, यह क्या सोच रहे हो? यह दिल्ली है, यहाँ कुछ कर सकते हो तो करो, सोचो कुछ मत, उसका अवकाश ही नहीं। और यदि इसी बीच किसी से टकरा गये तो सोचना बड़ा मँहगा पड़ेगा।'

शैलेन्द्र जय का हाथ पकड़ कर चौक के दूसरी ओर ले गया, वहाँ से वे खड़े हो कर दृश्य को देख सकते थे।

'आगे आज कहीं नहीं जाना शैलेन्द्र! अब तो जो करना है, यहीं शहर में घूम लें, बाकी कल।'

'बस !'—शैलेन्द्र ने कहा—'मैं समझता था कि तुम्हारी वह पुरानी वृत्ति समाप्त हुई होगी जिसके कारण तुम कहीं के भी न रहे, किसी के भी न हो पाये और सही माने में जगत में कुछ न कर सके; पर अब जैसे विश्वास बदलना पड़ेगा।' उसने कुछ मुस्कुराते हुए जय से कहा।

तब दोनों अचानक ही हँस पड़े।

किसी को देख कर ऐसा लगा कि जय उसे जानता है। वह भी जय को गौर से देख कर चला गया, पर बोला नहीं। और जय चाहता था कि उससे बोले, पर चाहने से क्या होता है? जब तक वह मुँह खोलता, वह व्यक्ति उस जन-समूह में खो चुका था। अब चाँदनी चौक में घंटा-घर नहीं रहा—यह शैलेन्द्र के द्वारा उसे मालूम हुआ—अब उस स्थान पर एक चबूतरा बना पड़ा है, पर इससे उसे क्या। ऐसे कितने ही स्थान बदल जाते हैं, या मिट जाते हैं। कौन किसकी याद रखता है?' बड़ी-बड़ी इमारतें जब बनवाई जाती हैं तब कैसी होती हैं, और फिर उनमें कितने क्या रंग नहीं होते, कितनी बहारें नहीं मनाई जातीं, पर किसी दिन वही सुनसान और विराम हो कर मनुष्य को खाने दौड़ने लगती है, और कभी केवल ढेर ही रह जाता है। फिर घण्टा-घर गिर गया तो जैसे जय के लिये कुछ नहीं था, अगर रहता तो भी वैसा ही।

उस कोलाहल से भरे हुए बाजार में भी जय कुछ खोया-खोया-सा था, यद्यपि उसकी आँखें खुली थीं, कानों की श्रवण-शक्ति अधिक सतर्क थी पर उसमें कुछ ऐसा भी था जो उसे अपने-आप में भुला रहा था। वह चाहता था कि वह भी अपने-आप को बिलकुल भुला दे, कुछ विशेष नहीं, सब बिलकुल साधारण, कोई कोटि नहीं केवल एक ही कोटि में सब क्यों न आ जायें, सोचने के लिये कुछ न हो—बस करने के लिये ही हो; पर वह जितना ही संसार में घुलना-मिलना चाहता था, उतना ही वह अलग हो रहा था।

बत्तियों की रोशनी में चमक-दमक और बढ़ गई थी, जो ऊपरी थी वह और उभर आई थी। शैलेन्द्र को ऐसा लगा जैसे जय को यह सब अच्छा न लग रहा हो। उसका प्रस्ताव था—चलो पास ही स्टेशन के सामने एक

पार्क है उसी में बैठ जायें; पर जय नहीं चाहता था कि कहीं एकांत उसे घेर ले। वे दोनों एक-दूसरे से टकराते जन-समुदाय में राह बनाते हुए बहुत दूर तक निकल गये। जय ने देखा—इस शहर में कितनी क्रिया है, वह आश्चर्य चकित भी हो रहा था, पर उसकी मुद्रा को ताड़ कर शैलेन्द्र मानों कुछ कहना चाहता हो—'यह दिल्ली है मेरे दोस्त, यहाँ सब काम बताने के लिए सोलह आने सच है और भीतर शायद आठ आने भी कुछ न हो, हर काम चाहे वह बड़ा हो या छोटा. कूटनीति के चक्र के प्रभाव के बिना दिल्ली में पूरा नहीं हो सकता। यहाँ दीनता के लिए स्थान ही नहीं। चालाकी जिंदा रहने के लिये प्रथम आवश्यकता है।' पर वह बोला नहीं। वह जानता था—'हो सकता है, इसमें जय का विश्वास ही न हो जाय। फिर उसे सच भी झूठ दीख गया तो ? उसमें बैठा हुआ मनुष्य उसे रोक रहा था, पर व्यवहार उसे सबलता से अपनी ओर खीच रहा था—और तभी जय का जी अचानक ही उचट गया। उसने कहा—

'देखा शैलेन्द्र, वह कौन है ?'

'आखिर,'—शैलेन्द्र ने जय के मुँह की ओर देखते हुए प्रश्न किया—'आखिर क्या बात है ?'

'बात कुछ नहीं है, देखो वह—उसकी शकल किससे मिलती है, जानते हो न, चलो मेरा जी उचट गया भाई !'

फिर उसने जिद नहीं की। शैलेन्द्र ने देखा, कोई किसी के साथ मोटर में बैठ चुकी थी, गाड़ी चल दी थी। तब एक क्षण सोच कर दोनों ही घर की ओर बढ़ गये।

लौटते-लौटते काफी रात जा चुकी थी, सड़क पर पहिले से कुछ कम भीड़ थी, किसी शिथिलता का आवरण उस वायुमण्डल में पड़ता जा रहा था; किन्तु जय की भावुकता क्यों बढ़ती जा रही थी, उसे बहुत से लोग उस नगर में परिचित और पहिचाने मालूम पड़ रहे थे, पर सब लोग यहाँ कैसे एकत्र हो सकते हैं ? अभी किसे देख कर उसका जी उद्वेग से भर आया था ? वह प्रतिमा थी—नहीं कोई और, बिलकुल मिलती-जुलती ! पर ऐसा कैसे हो सकता है, अंग्रेजी ढंग के कटे बाल, मुँह पर पाउडर, ओंठों मे लिप-

स्टिक, किसी युवक के हाथ में हाथ डाले! जय को भ्रम नहीं हो सकता था, वह प्रतिमा ही थी। उसने सुना था उसका विवाह दिल्ली में ही हुआ था, पर यह आमूल परिवर्तन! जब वह बी० ए० में उसके साथ पढ़ती थी, तब तक उसकी शालीनता को देख कर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि कभी यह प्रतिमा इतनी बदल जायगी कि जैसे कुछ न रहेगी, इतना रंग उस पर चढ़ जायेगा कि असलियत क्या है इसमें भी लोगों को शंका हो जाये।

पर इस बात के लिए उसके पास कोई प्रमाण नहीं था कि यह प्रतिमा है, उसकी मित्र, सीधी-साधी, और शालीन। यह वही है जो पहिले थी, लोग जिसे देख लेते तो श्रद्धा होती थी, ऐसी नहीं कि उसे देखकर उन्माद भर आता हो, भावना में ज्वार हो आता हो और वह भी कैसा! उसे आत्मसात कर अपने में समा लेनेवाला।

बहुत देर पश्चात् वह निश्चय कर पा रहा था—होगा कोई अपने को क्या? यह प्रतिमा भी हो तो भी, और न हो तो भी। यह कोई अनोखी नहीं है, सभी एक-से हैं, कोई जीवन का भोग सम्पूर्ण ढंग से करना चाहता है और कोई भोग ही नहीं करना चाहता, या करना चाहता है तो उतना ही जितना आवश्यक। प्रतिमा दूसरे छोर पर है।

शैलेन्द्र जय के साथ बहुत देर से चुपचाप चला जा रहा था, पर ऐसा जरूर उसे मालूम पड़ रहा था कि जय को कोई चोट लगी है, तभी तो वह इतने शीघ्र चौंक पड़ता है, इतनी जल्दी उस पर कोई बात अपना असर दिखा देती है। पर वह कैसे पूछे—और हाँ!—पूछ कर भी सिवाय इसके कि वह झूठ-मूठ के आँसू बहा कर साफ में एक उसांस भर जाये, और क्या कर सकता है पर फिर भी, उसका मन मानता ही न था।

●

तीन . . .

बहुत रात वे दोनों सो न सके।

शैलेन्द्र चाहता था जय उसे सब बातें बतला दे, आखिर वह ऐसा क्यों सोचता है कि इस संसार में किसी से घृणा न की जाय। जो घृणा के

योग्य है उससे घृणा न की जाय। तो क्या यह न्याय है, क्या यह विवेक है और मनुष्य में यदि यह नहीं है तो वह समाज में नहीं रह सकता, समय के साथ नहीं चल सकता, संग्राम में विजय प्राप्त भी नहीं कर सकता। और यदि वह द्वन्द्व की क्रिया में ही विश्वास करता है तो यह भावुकता क्यों है ?

पर जय द्वन्द्व में विश्वास करता है, यह बात तो नहीं कही जा सकती। वह सबसे पहले मनुष्य में विश्वास करता है, उसकी सत्ता में—उसकी क्रिया में, उससे पृथक स्वार्थों या वर्गों के द्वन्द्व में शायद उसे आस्था न हो। यह बात शैलेन्द्र जानता है।

'एक बात पूछूँ जय!'—उसने बिस्तर पर लेटे ही लेटे सहज समय काटने के लिये प्रश्न किया।

'मैं समझता हूँ तुम्हारे विचारों में इन दिनों भी कोई परिवर्तन न हुआ होगा पर तुम्हारा भी यह विश्वास है कि संसार का यही क्रम रहा तो लोग साम्यवादी अधिक बन जायेंगे। और कम से कम अपना देश तो अवश्य।'

जय समझता था यह प्रश्न पढ़े-लिखे लोगों में आम तौर पर है कि हम तो ऐसे नहीं हैं पर हो सकता है कि आनेवाली पीढ़ी ऐसी हो जाय; या कुछ लोग होते हैं और अपने साहस से कह देते हैं कि ऐसी ही होने-वाला है, उसने शैलेन्द्र का आशय शायद इतने शीघ्र न समझा हो पर फिर भी वह चुप रहे यह बात नहीं थी और फिर उस प्रश्न पर जिस पर उसने खूब सोचा था।

'यह प्रश्न बड़ा विचित्र है, शैलेन्द्र! बहुत लोग ऐसी ही शंका किया करते हैं पर वास्तव में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या मार्क्सवाद में क्या ऐसी कोई दार्शनिक पहुँच है अथवा हमारे देश के दर्शन को प्रभावित करने की शक्ति है ? मैं समझता हूँ, नहीं है, फिर भी उसकी क्रिया और सफलता के प्रति लोगों में प्रवंचना है, सफलता के लिये जो उपकरण चाहिएँ, वे साम्यवादी या पूँजीवादी दोनों में ही समान रूप से आवश्यक हैं। उनके पीछे वही काला परदा पड़ा रहता है जहाँ का पता लगना बहुत कठिन

है उस परदे के पीछे मनुष्य नहीं रहते पर वे रहते हैं जो हाड़-मांस के चोले में अपनी सत्ता से किसी दूसरे की सत्ता बड़ी समझते हैं, अपने प्रेम और न्याय के अधिकार के दूसरे के अधिकार से अधिक विश्वास करते हैं।'

'तो क्या जो वर्णन हमें वहाँ का मिलता है, वह भी सच नहीं है?' ——उसने पूछा।

'यह मैं नहीं कहता कि वह सच है या झूठ, पर इतनी बात अवश्य है कि जिस रूप में है वह ऐसा नहीं है जो मनुष्य के लिये हितकारी हो और विवेकवादी हो, उनके तरीके भयसंकुल मनुष्य की भाँति प्रतिक्रिया या यंत्रक्रिया के हैं, व्यक्ति की आत्म-चेता भूमि पर वहाँ कुछ नहीं है। आये दिन वही घटना घट जाती है और हमें मालूम नहीं पड़ता, पर अभी-अभी बड़ी घटना भी पत्रों में प्रकाशित हुई थी। मैं समझता हूँ व्यवस्था बदलने के बाद भी क्या आदमी के विकारों की गारंटी कोई साम्यवादी व्यवस्था ले सकती है, यदि नहीं तो व्यवस्था का आधार है शक्ति और शक्ति किसी भी प्रकार संचित की जा सकती है और तब ही साम्य है। सही अच्छी दलील है?'

जय ने कुर्सी पर लेटे-लेटे देखा——शैलेन्द्र की आँख झपती जा रही है, और उसकी वह बकवास व्यर्थ ही है, वह भी चुप हो गया। ऐसे भी लोग होते हैं जो समस्या के प्रति जिज्ञासा तो रखते हैं असंवृत्त भाव से, सत्य की जिज्ञासा लेकर तथ्य खोजना चाहते हैं। और यह बात अधिकांश लोगों में है पर जैसे स्वयं उसे पाने के समय विस्मृत हो जाते हैं। उसे भी नींद आ रही थी, पलकें कुछ भारी मालूम पड़ रही थी पर हृदय पर बोझा और मस्तिष्क में कहीं कुछ पाने की जिज्ञासा कम न हो रही थी। उसने डैनिकी निकाली और थोड़ी देर सोचता रहा, फिर लिखा——

मई ९। मैं दिल्ली आ गया, पर क्यों आया, यहाँ आकर यह बात अधिक अखर रही है।

दिन व्यर्थ ही निकल गया। कुछ न कर सका।

मैंने प्रतिमा को देखा है, शायद उसने भी, पर मैं सोचता हूँ, वह भी देखकर संकुचित हो गई जैसे कुछ कहना चाहती हो, पर शायद दूसरे के

कारण कुछ न कह सकी। पर यह परिवर्तन क्या स्वाभाविक है, क्या इसी का नाम जीवन है? उसके बिना क्या वह मृत हो जाती?

मार्ग में जो साथ में थे उनका नाम भी स्मरण नहीं रहता, शायद वे भी भूल गये होंगे; पर सोचता हूँ जीवन में ऐसे महत्त्वपूर्ण क्षण बहुत नही आते। प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखना चाहता हूँ।

कल लाल किला अवश्य देख लेना है—और भी कुछ।

...की बहुत याद आई पर भुलाने के भी प्रयत्न करता रहा शायद भुलाने में कोई अधिक स्मरण आता है।

जय ने दैनिकी बन्द कर दी और शैलेन्द्र के पलंग के पास ही बिछे अपने पलंग पर जा लेटा। जय जानता था शैलेन्द्र सोने में पक्का है, अधिक रात जागना उसके लिये कठिन है और शायद शैलेन्द्र को भी जय की आदत मालूम थी वह बहुत रात तक कुछ किया करता है, उसके लिये उस समय किसी का रहना अच्छा नहीं लगता, शायद इसीलिये वह अपने अतिथि के पहिले ही बिस्तर पर जा लेटा था।

जीवन के संचित उपकरणों में किसी बात को उसकी गहराई पर जाकर देखने की आदत बुरी है, सदा सोचता रहना तो और भी बुरा और उसके साथ दुनिया से बेखबर रहने से बुरी बात शायद और कोई न हो। कोई किसी की ओर आकृष्ट होता है तो शायद इसलिये कि वह सोचता नहीं है बस होता ही है, यही उसकी स्वाभाविकता है; पर फिर यदि पैर खींचना चाहता है—शायद अपनी इच्छा से नहीं, शायद दूसरों की इच्छा से, शायद नैतिकता के काल्पनिक पर दृढ़ मानदण्डों से डर कर तब! तब उसे क्या कहा जा सकता है? वह कायर है, भीरु है। और वह बहादुर है, तो क्या उसके प्रिय के संसार का इस खींचतान में अनिष्ट भले हो जाये! समाज की दुहाई में दर-दर की आवाजें सहना पड़ें और संसार में एक पल दूभर हो जाय तब!

जय का सोचने का यही मानदण्ड उसने लिखा है, और वह सोचता है और केवल इसी बात तक सीमित नहीं है, तो फिर व्यक्ति की इकाई से लेकर समाज की शक्ति तक सोचता ही जाता है फिर व्यवस्था के

संबंध में भी। और जितना सोचता है उतना ही उलझता जाता है। एक सर्व शक्तिमान् सत्ता से लेकर द्वन्द्व की स्वाभाविक क्रिया तक, त्याग के उच्च आदर्श से लेकर भोग के निम्न उपकरणों तक। पर फिर भी उसे कुछ मिल गया हो ऐसी बात कहीं प्रकट नहीं होती, जो उसके निकट हैं वे भी यह नहीं कह सकते कि जय सोलह आना यही सोचता है, उसके बहुत से मित्र हैं, कुछ बड़े गहरे, क्या युवक और क्या युवती। घर के लोगों का उस पर दृढ़ विश्वास है, उसे भी जैसे घर से ममता हो पर उस पुराने समाज में वह अपने आपको फिट न कर पाता हो—पर उससे घृणा नहीं करता, उसका परिष्कार चाहता है। कुछ लोग उसकी यह बात जानते हैं, उसकी पत्नी शायद नहीं जानती, जानती होती तो उससे प्रेम न कर पाती, और क्यों प्रेम करती, जब दूसरा उससे बचना चाहता है। वहाँ श्रद्धा हो सकती है, पूजा हो सकती है प्रेम शायद नहीं। पर जय उसे बेहद प्रेम करता है, उसके भावों में उसके लिये बहुत ऊँचा स्थान है, शायद उसने जब तक उसे नहीं देखा था तबतक नारी की ममता पर विश्वास उसे नहीं था, बाद में वहीं से वह प्रत्येक से सानिध्य जोड़ने चल पड़ा। यह बात तो उसने अपनी दैनिकी में साफ लिखी है पर कहीं-कहीं और कभी-कभी वह किसी की बात लिखता है नाम शायद उसका हो ही नहीं, शायद वह उसे पूर्णतया जानता भी न हो, शायद उसकी इच्छा उसे पाने की अब न हो या कभी न रही हो शारीरिक तो बिल्कुल नहीं पर सुस्त हो जाता है, और वहीं से किसी गहराई तक जाना चाहता है, यह क्या है, यह आकर्षण कैसा है? शायद वह भी प्रेम उसे करती है तभी तो !

उसकी दैनिकी में कुछ ऐसी ही बातें लिखी पड़ी हैं। उसने दैनिकी लिखना कुछ दिनों हुए तब ही शुरू किया, इसलिये पुरानी बातों का संदर्भ करना बड़ा कठिन है।

उस कमरे में अब भी बत्ती जल रही थी, कोने में जय का सामान रखा था, टेबुल पर अखबार, ो आकृतियाँ जो अब सुप्त थीं। साँसें भर इस बात का प्रमाण थीं कि ` जीवित हैं पर इन साँसों की कितनी कीमत है, लोग इन्हें क्यों व्यर्थ में ही गँवा देते हैं, गँवा देने में गौरव समझते हैं।

कारण कुछ न कह सकी। पर यह परिवर्तन क्या स्वाभाविक है, क्या इसी का नाम जीवन है? उसके बिना क्या वह मृत हो जाती?

मार्ग में जो साथ में थे उनका नाम भी स्मरण नहीं रहता, शायद वे भी भूल गये होंगे; पर सोचता हूँ जीवन में ऐसे महत्त्वपूर्ण क्षण बहुत नहीं आते। प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखना चाहता हूँ।

कल लाल किला अवश्य देख लेना है—और भी कुछ।

...की बहुत याद आई पर भुलाने के भी प्रयत्न करता रहा शायद भुलाने में कोई अधिक स्मरण आता है।

जय ने डैनिकी बन्द कर दी और शैलेन्द्र के पलंग के पास ही बिछे अपने पलंग पर जा लेटा। जय जानता था शैलेन्द्र सोने में पक्का है, अधिक रात जागना उसके लिये कठिन है और शायद शैलेन्द्र को भी जय की आदत मालूम थी वह बहुत रात तक कुछ किया करता है, उसके लिये उस समय किसी का रहना अच्छा नहीं लगता, शायद इसीलिये वह अपने अतिथि के पहिले ही बिस्तर पर जा लेटा था।

जीवन के संचित उपकरणों में किसी बात को उसकी गहराई पर जाकर देखने की आदत बुरी है, सदा सोचता रहना तो और भी बुरा और उसके साथ दुनिया से बेखबर रहने से बुरी बात शायद और कोई न हो। कोई किसी की ओर आकृष्ट होता है तो शायद इसलिये कि वह सोचता नहीं है बस होता ही है, यही उसकी स्वाभाविकता है; पर फिर यदि पैर खींचना चाहता है—शायद अपनी इच्छा से नहीं, शायद दूसरों की इच्छा से, शायद नैतिकता के काल्पनिक पर दृढ़ मानदण्डों से डर कर तब! तब उसे क्या कहा जा सकता है? वह कायर है, भीरु है। और वह बहादुर है, तो क्या उसके प्रिय के संसार का इस खींचतान में अनिष्ट भले हो जाये! समाज की दुहाई में दर-दर की आवाजें सहना पड़ें और संसार में एक पल दूभर हो जाय तब!

जय का सोचने का यही मानदण्ड उसने लिखा है, और वह सोचता है और केवल इसी बात तक सीमित नहीं है, तो फिर व्यक्ति की इकाई से लेकर समाज की शक्ति तक सोचता ही जाता है फिर व्यवस्था के

संबंध में भी। और जितना सोचता है उतना ही उलझता जाता है। एक सर्व शक्तिमान् सत्ता से लेकर द्वन्द्व की स्वाभाविक क्रिया तक, त्याग के उच्च आदर्श से लेकर भोग के निम्न उपकरणों तक। पर फिर भी उसे कुछ मिल गया हो ऐसी बात कहीं प्रकट नहीं होती, जो उसके निकट हैं वे भी यह नहीं कह सकते कि जय सोलह आना यही सोचता है, उसके बहुत से मित्र हैं, कुछ बड़े गहरे, क्या युवक और क्या युवती। घर के लोगों का उस पर दृढ़ विश्वास है, उसे भी जैसे घर से ममता हो पर उस पुराने समाज में वह अपने आपको फिट न कर पाता हो—पर उससे घृणा नहीं करता, उसका परिष्कार चाहता है। कुछ लोग उसकी यह बात जानते हैं, उसकी पत्नी शायद नहीं जानती, जानती होती तो उससे प्रेम न कर पाती, और क्यों प्रेम करती, जब दूसरा उससे बचना चाहता है। वहाँ श्रद्धा हो सकती है, पूजा हो सकती है प्रेम शायद नहीं। पर जय उसे बेहद प्रेम करता है, उसके भावों में उसके लिये बहुत ऊँचा स्थान है, शायद उसने जब तक उसे नहीं देखा था तबतक नारी की ममता पर विश्वास उसे नहीं था, बाद में वहीं से वह प्रत्येक से सानिध्य जोड़ने चल पड़ा। यह बात तो उसने अपनी दैनिकी में साफ लिखी है पर कहीं-कहीं और कभी-कभी वह किसी की बात लिखता है नाम शायद उसका हो ही नहीं, शायद वह उसे पूर्णतया जानता भी न हो, शायद उसकी इच्छा उसे पाने की अब न हो या कभी न रही हो शारीरिक तो बिल्कुल नहीं पर सुस्त हो जाता है, और वहीं से किसी गहराई तक जाना चाहता है, यह क्या है, यह आकर्षण कैसा है? शायद वह भी प्रेम उसे करती है तभी तो !

उसकी दैनिकी में कुछ ऐसी ही बातें लिखी पड़ी हैं। उसने दैनिकी लिखना कुछ दिनों हुए तब ही शुरू किया, इसलिये पुरानी बातों का संदर्भ करना बड़ा कठिन है।

उस कमरे में अब भी बत्ती जल रही थी, कोने में जय का सामान रखा था, टेबुल पर अखबार, ो आकृतियाँ जो अब सुप्त थीं। साँसें भर इस बात का प्रमाण थीं कि ` जीवित हैं पर इन साँसों की कितनी कीमत है, लोग इन्हें क्यों व्यर्थ में ही गँवा देते हैं, गँवा देने में गौरव समझते हैं।

और दूर स्टेशन पर अभी भी गाड़ियों के आने-जाने की चहल-पहल वहाँ तक साफ सुनाई पड़ रही थी, कभी रेल गाड़ी की सीटी से लेकर डिब्बों के कटने और लगने की आवाजें भी सुनाई पड़ती थी, आदमी उस समय भी काम कर रहे थे, शायद कुछ भूखे पेट होंगे, कुछ इच्छा से और कुछ के घर शायद कुछ नहीं; पर शायद ऐसा न होता हो। लोग ऐसी बातें सोचते हैं कि उन्हें जबरदस्ती खाना खिलाया जाय और फिर अधिकार पूर्वक जबरदस्ती काम भी लिया जाय। वे उसी के लिये अपने प्राण उत्सर्ग कर देंगे—यह बातें हमारे यहाँ किसी पालतू कुत्ते से अधिक महत्त्व नहीं रखतीं पर आदमी कुछ ऐसा ही बनना चाहता है, चाहता नहीं है, महत्वाकांक्षी उसे ऐसा बनाकर ही अपनी इच्छा पूरी कर सकता है, इसी-लिये तो इस नये दर्शन की, इस नये वाद की ऐसी ही धूम है। वह रात शान्ति के वातावरण में कुछ ऐसा ही प्रकट कर रही थी, पर क्या प्रकाश के अभाव में वही बात सच भी है—यह नहीं कहा जा सकता!

मई की रातें दिल्ली में कितनी सुहावनी लगती हैं, यमुना के कछार पर बसी हुई नगरी में सरलता की लहरें उठना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वैसे दिन में ग्रीष्म की तेजी, चहल-पहल और अप्राकृतिक साधनों से मालूम नहीं पड़ता—बिजली के पंखों में साधन-सम्पन्न परिवार आनन्द उपभोग करते हैं पर रातें सबके लिये अपनी मधुरिमा लुटा देती हैं, ठीक वैसे ही जैसे उनका अपना पन कुछ न हो, उनके जीवन की मधुरिमा से दूसरे खुश न हो सकें। यह त्याग—दकियानूसी और पुराने विचारों का हो गया, यदि वे भी आदमी को ग्रीष्म के आतप की भाँति झुलसाने लगती, तो सच ही आदमी उनकी कठोरता पर सोचने लगता—विचार करने लगता। जय जब दिल्ली के निकट आ रहा था तब उसे मीलों पहिले से लक्षण दिखाई दे रहे थे कि यह वही स्थान है यहाँ मनुष्यों का अपार समूह रहता है जहाँ से ३५ करोड़ लोगों के भाग्य का निर्माण होता है, जहाँ पर देश के सबसे महान् व्यक्तित्व रहते हैं; पर बात उसे समझ में नहीं आ रही थी कि क्या वाकई ही ऊपरी दिखावट महानता है या उसमें मिलावट का

अंश इतनी सफाई से मिलाया गया है कि जहाँ यह भेद करना कठिन है कि महान् क्या है, त्याग क्या है? और वर. के विश्वास के अनुसार जो परिश्रम नहीं करते उन्हें भोग करने का क्या अधिकार है, यह पूँजी उन्हीं के द्वारा संग्रहीत होती है जो स्वयं कुछ नहीं करते पर इकट्ठा भर करने में योग देते हैं--और फिर यदि पूँजी तुम्हारे भोग से अधिक है वह तुम्हारी नहीं है समाज की है, उसकी व्यवस्था की है, सबकी है, उस भूमि की है जिससे उत्पन्न हुई। यमुना की शीतलता उसकी है, वह अतिरिक्त जनता को बाँट देती है, और स्वयं प्रसन्न होती है।

पर यह देखने को जय जाग्रत ही नहीं था। दिन भर की थकान ने उसे खूब गहरी नींद में सुला रखा था।

जब तक इस पंचभूत के बने शरीर की अंतिम क्रिया नहीं हो जाती तब तक जीवन में स्मृतियाँ--धुँधली या मांसल, काल्पनिक या सजीव बनी ही रहती हैं फिर चाहे कोई आँखें भर बन्द कर ले, सांस भी दबा कर छोड़ता जाय तो क्या होता है? तब जागृत और स्वप्न में शायद यही अन्तर है, जागृत स्वप्नों के लिये क्रिया करता है और स्वप्न जागृत के अवकाश की पूर्ति। कभी स्मृतियाँ बड़ी पुरानी नये-नये स्वप्नों में उतर आती हैं, तब आश्चर्य हो उठना स्वाभाविक है। जय को स्वप्न बहुत आते हैं शायद इसलिये कि वह बहुत सोचता है और फिर कोई थोड़ी-सी चीज यदि मस्तिष्क में उसके संबंध में बनी रही तो फिर उससे बच सकना कठिन है।

जब शैलेन्द्र बहुत तड़के बिस्तर से उठ पड़ा और बत्ती जला कर उसने जय की ओर दृष्टि उठाई--तब जय के ओंठ मुस्कुराये हुए थे, आँखों में कंपन था और दोनों हाथ अपनी उँगलियों को सतर्क किये कुछ संकेत करते थे, उसका चादर केवल पैरों पर पड़ा हुआ था। तब शैलेन्द्र कुछ न बोला पर आश्चर्य-चकित अवश्य था--शायद इसलिये कि वह जय को बहुत बदला हुआ देख रहा था, बहुत कुछ अपने में खोया हुआ, पहिले भी जय ऐसा ही था; पर जय तो जो कुछ उसके मन में होता था शैलेन्द्र उसे जान लेता था पर अब जय शायद स्वयं भी कुछ जानता है अथवा नहीं। तभी तो ऐसा है--शैलेन्द्र कुछ ऐसा ही सोच रहा था।

उसने फिर बत्ती बुझा दी और बाहर चला गया, प्रातः उठ कर उसे बहुत से काम निकट लेने पड़ते थे अथवा सुबह के बाद उसके पास अवकाश कहाँ था, जय के कारण उसे अपने कार्य में तीन दिवस का अवकाश लेना पड़ा पर यह तो उसकी आदत थी, आदत तो आदत ही होती है, एकाध दिन में बदल सकना उसके लिये कठिन था।

और जय सो रहा था पर वहाँ नहीं था—वह अपने जीवन के कितने ही वर्ष पहिले की स्थिति में था—स्वप्नों में कितने चित्र कितनी जल्दी संकलित हो जाते हैं और मिट जाते हैं।

ऊँची-ऊँची पहाड़ियों के बीच में बसा हुआ एक नगर है, पहाड़ी पर से देखने में ऐसा लगता है जैसे सफेद पतंग ऊपर तथा नीचे को कुछ खिची हुई। पहाड़ी पर भी नीचे की ओर उतरते हुए बड़े-बड़े पेड़, छोटी-छोटी टहनियों को सम्हाले हुए हैं, हरे-हरे पौधे, हरित दूर्वा से पटा हुआ उनका गोलाकार किनारा। नगर के दक्षिण पश्चिम के एक कोने के मकान में जय अपने एक मित्र के यहाँ बैठा हुआ है, तब वह कमरे में अकेला है, पर शायद किसी की प्रतीक्षा में है। कभी टेबल पर पड़ी हुई किताबों को उठा लेता तो कभी कापी को, तब पद-चाप सुन कर वह सतर्क हो गया; पर उठा नहीं, झिझका भी नहीं और आराम से बैठ गया;—कुछ निश्चिन्त-सा।

दो हाथ जुड़े हुए उसे बगल में दिखाई दिये—शायद बोली मुँह से निकल कर ओंठो तक ही रह गई थी।

जय ने पलकें उठाते हुए नमस्ते की।

'मुझे देर हो गई, आपको बहुत बैठना पड़ा, मुझे खेद है'—कोई कहता ही चला गया तब जय पसीज उठा। उसने कहा—

'कुछ नहीं, कोई देर नहीं हुई, बैठो। यहाँ...' टेबुल की दाई ओर रखी कुरसी की ओर इशारा कर उसने कहा—

'हूँ ऊँ, आपका आसन है, मैं उसपर नहीं बैठूँगी, आप उठिये—उठिये तो!'

और जय ने कितना आग्रह किया पर वह टस से मस नही हुई। जय को हार माननी पड़ी, पर वह तो उसकी आदत पड़ गई थी—मानो इस दुराग्रह में कटुता नही, संयम था उसी के बल पर तो वे दोनों थे। और यदि वे न होते तो एक के लिये दूसरा न के बराबर था। शायद कोई किसी की ओर न खिंचता—विरोध में आकर्षण साधारण स्थिति में नहीं होता पर उस दिन जय ने कुछ उसे नहीं बताया।

वह केवल सप्ताह में एक बार उसके घर जाया करता है, तब उसे जो कठिनाइयाँ होती थी वह पूछ लेती। पर वह किसी और से पूछना क्यों नहीं चाहती। जय ने उसके पिता से कहा था—'मास्टर लगवा दूँ पिता जी।' तब एक लाचार दृष्टि से देखकर उन्होंने कहा था—

'राधा से पूछ लेना बेटा, वह जाने—और फिर तुम जैसा समझो।'

यह निकटता अचानक नही हुई थी। यह आकर्षण अलौकिक रूप से या आश्चर्यजनक स्थिति में उत्पन्न नहीं हुआ था? पर यह तो कहा ही जा सकता है पहिले एक की दूसरे के प्रति श्रद्धा थी और दूसरे की एक के प्रति ममता—तभी तो श्रद्धा प्रेम में बदल रही थी और ममता लगाव में—मोह में, पर कुछ उच्छृंखल नहीं, बनावट नही, कुछ प्रकट नहीं और वर्षो से परिचित वे दोनों एक दूसरे के परिवार को खूब जानते थे, राधा जानती थी जय अविवाहित है—पर उससे उसे क्या, वह उससे प्रेम करती है, इसके कोई उपकरण उसके पास नही है, किसी का चित्र भी नहीं, उसके हाथ की लिखी दो पंक्तियाँ भी वह रखना पसन्द नही करती, उसका उपहार तो वह बिल्कुल स्वीकार नहीं करती। तब आँखों ही आँखों में कह जाती—

'इतना भार मत डालो, जो मेरी सीमा से बाहर हो—मैं तुम्हारी बहुत-सी बातें मान लेती हूँ यही क्या कम है?'

और जय क्यों उसकी ओर खिंचता जा रहा था, पर पहिल उसका कर्त्तव्य था, उसी का निर्वाह करना वह अपना धर्म समझता था तभी अपनी पढ़ाई के साथ उस व्यस्त जीवन में सप्ताह में एक दिन का समय वह निकाल ही लेता था; पर जब तक वह ऐसा नहीं था तब तक उसे अपनी

कमजोरी पर आस्था थी वह जानता था वह राधा से यदि स्नेह भी करता हो, राधा ऐसी नहीं है जो प्रेम की स्वीकृति दे दे। वह अपने-आप में इतनी संयमित, अपने प्रति इतनी कठोर और दूसरों के प्रति इतनी सदय क्यों है? वर्षों तक वह उसके विषय में सोचता रहा पर वह न जान सका कि कोई उसकी ओर खिंचता आ रहा है। कड़ी जंजीरों में बँधा हुआ, जैसे वह कोई पाप हो रहा हो। तभी से उसकी पीड़ा का अंतर्द्वन्द्व उसके मस्तिष्क में छाता गया हो। जैसे यह सब अलौकिक हो रहा हो, रहस्यमय—उसे स्वयं नहीं मालूम। और तब वह सोच उठता—समाज, व्यवस्था, धर्म, व्यक्ति, प्रेम, आकर्षण और विकर्षण सब कुछ बुद्धि सम्मत ही नहीं बना है, कुछ और भी होता है, जिसमें कुछ बल है, शक्ति है, शायद सचाई भी।

एक दृश्य समाप्त हुआ।

संध्या का रागारुण अवसान रात में बदल रहा था। राधा अपने कमरें में बैठी कुछ मग्न थी, तब रेडियो पर एक गाना आ रहा है, वह उसी में तन्मय है। किताब उसके सामने खुली है—काले अक्षरों में जैसे कुछ अर्थ ही न हो, कागज की कालिमा को छोड़ कर वह कुछ देर खोई-सी बैठी रही तब झल्ला कर भीतर चली गयी। भोजन पर बैठना चाहा पर तभी जय पहुँच रहा था, उसने खाना नहीं खाया, वह उसके पास चली आई तब जैसे गुस्से में उसका चेहरा तमतमा रहा था—पर पलकों की कोर में छिपी ममता कह रही थी—तुम बहुत बुरे हो, जाओ तुम्हें मैंने अबकी बार क्षमा कर दिया अब ऐसा न करना।

वह बोल उठी—'बहुत व्यस्त था राधा, विलम्ब हो गया तुम...'

वह बैठी रही और जय कुछ निशान लगे हुए चिह्नों को बतलाता रहा, पर जब एक ही बात उसे चार बार दुहरानी पड़ी तब उसका ध्यान राधा की ओर गया।

वह घड़ी देखता रहा—दो मिनट तक पता नहीं राधा कहाँ खोयी रही तब उसने किताब बन्द कर दी और अपनी कुरसी पीछे खींची। एक सिहरन लेकर राधा चौंक पड़ी।

'क्यों? क्या अब नहीं बताओगे?'

'या तुम्हीं नहीं पढ़ना चाहतीं। क्या बात है राधा? मैं देखता हूँ तुम बीच-बीच में खो जाया करती हो, यह खोना अच्छा नहीं है या कोई बात जो...'

'पर कोई बात तो हो?'

'ऐसा नहीं हो सकता, तुम कुछ सोचती हो और ऐसा जहाँ तुम नहीं रह पातीं, उसमें डूब जाती हो, मानो जैसे तुम्हारे सामने कोई गहरी समस्या हो।'—जय पता नहीं क्यों बोलता ही जा रहा था।

'कुछ भी नहीं, आप तो व्यर्थ ही नाराज होते हैं।'

'तो तुम नहीं बताओगी?'

'और आप पूछ कर क्या करेंगे?'

'यदि कर सका तो...'

और तब राधा ने फर्श को पैरों से कुरेदते हुए उसकी आँखों में आँखें डाल कर यही बतलाया था—'वह उससे...!'

'क्या? क्या यह सच हो सकता है राधा?'

तब शायद उसने कुछ न सुना हो, लज्जा ने उसके कानों को मसला दिया था और ऐसा कि सारा मुँह लालिमा से तमतमा उठा था, उसका शरीर काँप रहा था, हाथ ठंडे हो गये थे।

उसने पता नहीं किस साहस से कहा—

'देखो ये हाथ कितने ठंडे हो रहे हैं, ऐसे ही हो जाते हैं, और मैं कभी-कभी ऐसा ही खो जाती हूँ, पर... अच्छा आज आपने कुछ नहीं बताया। बहुत समय बातों में ही निकल गया।'

राधा तब पूछने की मुद्रा में आना चाहती थी।

जय का कर्त्तव्य डिग गया था, उसका अविश्वास विश्वास में बदल गया था—यह बात उसे नई और उड़ान की सी मालूम पड़ रही थी, वह चेतन था या सुप्त हो रहा था उसे स्वयं मालूम नहीं था।

'यह अच्छा नहीं किया...'

उसने सोचा—

'तभी वह इस उमर में मीरा की भाँति अपने जीवन को काट रही है, क्या उसकी जिंदगी का यही रहस्य है, उसके संसार से दूर भागने का यही मंतव्य है।

'तब यह मेरा ही सब दोष है, यदि वह उसके बिल्कुल निकट न आता तो...'

'प्रेम गलत है--कुछ नहीं है, भावुक हृदय की कहानी! कल्पना-लोक की वस्तु, जिसका यथार्थ से कुछ संबध नही है, यथार्थ में सब भोग है, प्रेम नही है; प्रतिफल है आकर्षण कुछ नही है। तब उसने यह गलत किया, राधा ने भी जीवन के प्रारंभ में ही अपने को मिटा दिया। उत्सर्ग कर दिया पर वह मुँह पर प्रकट करने में कम हो जायगा, उसकी महानता मिट जायगी। फिर समाज, व्यक्ति, व्यवस्था...!'

'नही प्रेम सत्य है, सब कुछ है। भावुक हृदय की तीव्रतम सच्ची अनुभूति। वह स्वयं एक पदार्थ है, भोग उसके आगे कुछ नही है। स्वयं अपने आप में पूर्ण, यही सबका आधार है। विकेन्द्रित शक्तियों को एक-दूसरे की ओर खीचने की शक्ति क्या कम है! वह प्रकट न हो ऐसा नही हो सकता, फिर द्वैत क्या, दुराव कैसा, प्रतिहिंसा कैसी...?'

जय ने तब राधा के दोनों हाथों को अपने हाथों में समेट लिया था, सचमुच उसके हाथ हिम के समान गल रहे थे, वह काँप रही थी।

और जब जय वहाँ से जा रहा था तब उसने अपने संचित विश्वासों को केन्द्रित कर बडे साहस से राधा के कपोल को हल्के स्पर्श से छूकर कहने का निश्चय किया था--

'पगली हो, मुझे यही डर था, पर तुम पर मुझे बहुत विश्वास है राधा! तुम मुझसे दूर कभी न थीं, प्रेम की पूर्णता से एकाकार, तभी तो मैं, मैं हूँ--वही बना रहा रहूँ और तुम बनाये रह सकती हो पर यह सरल नहीं है--मैं पता नहीं क्यों सुस्त हो गया हूँ। तुम्हारी पीड़ा मेरे प्राणों में है, मैं सब दुःख पीकर तुम्हें सुखी रखना चाहता हूँ। तुम्हें बदलना पड़ेगा--पर प्रेम अमर रहेगा--अपार्थिव होगा...'

तब लड़खड़ाते हुए वह निकल रहा था--जैसे वह गिरा अब गिरा।

जय का पलंग किसी ने जोर से हिला दिया हो—उसकी आँख खुल गई थी, तब उठ खड़ा हुआ जैसे कुछ खो दिया था और कुछ पा लिया हो।

पर उसका चेहरा उतना प्रसन्न नहीं था जब वह सोया था, पीड़ा उभर आई थी—वही जिसे वह भुलाने के लिये संसार भर में खोना चाहता था, जिसके लिये वह अपने जीवन के अधिक से अधिक घंटे काम में बिताये रखना चाहता था।

●

चार . . .

जब शैलेन्द्र और जय प्रातः के नाश्ते-पानी से निश्चिन्त हो निकल पड़े, तब उनके सामने कोई गन्तव्य नहीं था। यद्यपि जय का आग्रह था लाल किला सुबह ही देखा जाय पर शैलेन्द्र चाहता था इतनी भाग-दौड़ की क्या आवश्यकता है। सायं को आराम से जाकर देखा जा सकता है। फिर वहाँ से इंडिया गेट—पर दिन भर का वह समय उस कोलाहलपूर्ण नगरी में काटना कितना दूभर है, कितना कठिन और उसके लिये जो जीवन में विश्राम के पक्ष में नहीं, जहाँ सुख अपने आप में भी कुछ नहीं और दुःख भी नहीं पर क्रिया ही सब कुछ थी। जय का जीवन बँधा हुआ प्रपात था उच्छृंखल झरना नहीं—लोग कुछ ऐसा ही बनना चाहते हैं, कुछ भी कर सकें, कैसा भी, कोई रोक-टोक न हो, पर जैसे उसका परिणाम भी वे ही निकालें और अच्छा; पर क्या हो पाता है? लोग अपने ऊपर ही उसका प्रयोग करते हैं—स्वच्छन्द बनकर रोमेण्टिक बनकर, पर भीतर से कितने नृशंस! सरल लोग ऐसे नहीं हो सकते। अंग्रेजी वातावरण से पुष्ट स्वच्छन्दता जय को अच्छी न लगती हो, जैसे वह थोथी हो, बनावटी, जहाँ उसका जन्म हुआ वहीं वह असफल हो गई पर अंग्रेज उसे बड़े गर्व से यहाँ छोड़ गये, मिशनरियों के हाथ में फतवा देकर कि तुम सब कुछ कर सकते हो।

पर हम पर ईमान लाओ, सब खून माफ हो जावेंगे। कितनी गलत बात है। गलत ही नहीं, राजनैतिक भी है।

शैलेन्द्र ने कहा—'चलें शहर घूम लें, जमुना के तट पर आज मेला लगा हुआ है, जहाँ पुरानी दिल्ली के दृश्य हैं, बड़े-बड़े वीरान बगीचे हैं, और भी कुछ—कश्मीरी गेट तक।'

पर जय पता नहीं, क्यों उस उलझन में नहीं पड़ना चाहता था, किसी शहर को देखने का क्या मतलब? प्राचीन इमारतों को, उस कारीगरी को, उनके ऐतिहासिक महत्त्व को तो देखा जा सकता है, देखना भी चाहिये पर चलते-फिरते आदमी, उनके मकान, उनके रहन-सहन को कहीं एक स्थान ही पर खड़े रह कर देखा जा सकता है। दिल्ली देखने पर ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है, यदि विदेश का कोई व्यक्ति दिल्ली के नवनिर्मित स्वरूप को देखे, तो भारत के विषय में बड़ी विपरीत धारणा बनायेगा, दिल्ली में स्वयं एक विरोध है, पर जैसे वह सबका केन्द्र हो, नवीनतम विदेशी फैशन को भी मात करनेवाले व्यक्ति भी वहाँ हैं और तन ढाँक कर कपड़ा न पहिननेवाले भी।

पर यह तो सब स्थानों पर होता है, यह विषमता नैसर्गिक नहीं है, बदली जा सकती है, यह अंतर कम किया जा सकता है। जय की उदासीनता देख कर शैलेन्द्र ने कहा—

'अच्छा चलो तुम्हें अपने एक मित्र से परिचित करा दूँ—बड़े ही अलमस्त आदमी हैं, ठीक तुम्हारी तरह। पर तुम जैसे आत्म-केन्द्रित हो और वे जो कुछ हैं बाहर ही, भीतर कुछ नहीं।'

और जय की स्वीकृति के साथ शैलेन्द्र ने सड़क पर ही रुक कर आवाज लगाई थी—

"बीरु बाबू, बीरु बाबू!"

भीतर से वही परिचित आवाज आई थी, जिसे जय ने कभी सुना था और शायद मकान का बाहरी हिस्सा उसका देखा हुआ था, तो क्या उसने शैलेन्द्र के मकान के भ्रम में बीरु बाबू के ही मकान पर चढ़ने की कोशिश की थी।

शैलेन्द्र ने जय को बुलाते हुए कहा—"भीतर चलो, हजरत आ रहे हैं, पड़ोस में ही गये हुए हैं।'

उस छोटी-सी जगह में भी बड़ी कुशलता से रहने के लिये मकान बना लिया गया था, चौक के ऊपर चढ़कर जीने के पास ही बीरू बाबू की बैठक है, सामने खाना बनाने की जगह, बगल में एक स्टोर, बस। ऊपर छत, खुली और साफ—पर मकान एक-दूसरे से कितने मिले हुए हैं! एक मकान का मनुष्य दूसरे के घर पर आसानी से आ-जा सकता है, जय ने उड़ती दृष्टि से सब कुछ देख लिया। फिर बैठक के कमरे से एक ओर तो बाजार दिखाई पड़ता था दूसरी ओर रसोईघर।

शैलेन्द्र ने कहा—

'आओ सुधा! तुम्हारी आज एक महाशय से पहिचान कराता हूँ, जिसका शिष्यत्व मुझे मानने में कोई हिचकिचाहट नही है, पर कभी गुरु शिष्य रहे नही है।'

सुधा रसोई में गई थी बरतनों के खनकने की आवाज में उसने शैलेन्द्र की कितनी बात सुनी हो ी, मालूम नहीं पर उसने तुरन्त ही जवाब दे दिया—

'मैं अभी आई।'

और जय सोच रहा था, यह सुधा कौन है? शैलेन्द्र ने अपने संपूर्ण जीवन में कभी मित्र नहीं बनाये और नारी मित्र बना लेना सबका काम तो नहीं है। उसके लिये किसी विशेष कौशल की आवश्यकता होती है, फिर घर में और कोई नहीं है। बीरु बाबू और सुधा! पर क्या पता इनका संबंध क्या हो, प्रत्येक का यथार्थ संबंध तो उसी तक सीमित रहता है या फिर वह उन तक जिनका उनसे संबंध हो, पर कुछ लोग बिना परिचय और संबंध के दूसरे के संबंधों को गलत और दूषित ही मान कर चलते हैं।

कुछ देर की चुप्पी के बाद शैलेन्द्र कह रहा था—

'जय तुमने यह नहीं बताया कि अब तुम्हारा क्या विचार है, जीवन भर प्रोफेस ी का या और कुछ। मैं तो सोचता हूँ दो ही बातें हैं, या तो सरकार हमें काम दे या भाग्य में हमारे लिये एकत्रित किया हुआ धन।

मुझे तो बीरू बाबू को देख कर आश्चर्य होता है, बिना पूँजी के कैसे काम किया जा सकता है, और बिना काम के खाने की व्यवस्था कहाँ से होती है ? पर होती सब है ? हाँ, सुधा की बात अलग है।'

'कौन सुधा ?'--जय ने विषय को बदलते हुए पूछना चाहा।

तभी जैसे किसी ने प्रवेश किया हो।

'ये देखो, इनका नाम है सुधा बी० ए०, बीरू बाबू की बहिन। बीरु बाबू राजनैतिक कार्यकर्त्ता हैं, सुधा अध्यापिका है, माँ अभी हरद्वार गई है।'

और शैलेन्द्र ने जय की ओर देखते हुए कहा--'सुधा ! ये मेरे दोस्त ह हमदर्द कहो, भाई कहो--प्रो० जयदेव, पूना। यहाँ घूमने के लिये आये हैं, मैंने सोचा चलो तुमसे अगर भेंट हो जाये तो बहुत गुत्थियाँ तुम सुलझा लो और हो सकता है जय भी अपने कुछ विश्वास बदल ले।'

शैलेन्द्र क्या कह रहा था--शायद उसे स्वयं न मालूम हो पर जैसे वहाँ आ कर उसकी वह स्वाभाविकता, उसकी कुछ कम मालूम हुई, कुछ बदली हुई।

और सुधा ने कहा--

'आपको मैंने देखा तो है--शायद ! आपने सबसे पहिले यही शैलेन्द्र दा का मकान पूछा था ?'

'हाँ, मुझे भी कुछ याद आ रहा है, यह भी आकस्मिक समझिये'--जय ने कहा। कभी-कभी ऐसा होता है कि दो अपरिचित भी एक ही बात पर सोचते हैं, पर बोलते नहीं हैं।

फिर भिन्न-भिन्न प्रकार के विषय निकल रहे थे, जय कुछ न कुछ कह तो दिया करता था पर उसे उनमें इतनी रुचि नहीं थी, और रुचि की ही तो बात नहीं है, स्थिति के अनुकूल हो कुछ-कुछ बन जाना पड़ता है, पर एक प्रश्न ऐसा था जो सुधा ने पूछा था--और शायद वह उसके अनुकूल हो--

'अगर आप बुरा न मानें, और जैसे शैलेन्द्र दा ने कहा है, आपने गम्भीर अध्ययन किया है तो यह बताइये कि स्थिति को लोग घटना क्यों बनाना चाहते हैं क्या घटना बचाई नहीं जा सकती ?'

सुधा के पूछने का क्या मन्तव्य था यह तो जय को नहीं बताया गया फिर भी जय स्वयं ऐसी गुत्थियों में उलझा रहना पसंद करता है--और शैलेन्द्र ने हाँ में हाँ मिला दी थी। तब उसे बोलना ही पड़ा---

'इस प्रश्न का आधार क्या है सुधा देवी! यह तो मुझे नहीं मालूम; पर मैं भी इस संबंध में कुछ सोचा करता हूँ, केवल सोचता ही हूँ, कुछ चीजें सोचने की होती हैं और कुछ करने की। पर स्थिति और घटना निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्ष हैं। यह तो साधक की साधना पर निर्भर है कि वह स्थिति में चरम की अवतारणा कर ले, घटना भी बच जाये और स्थिति भी पूर्णता भी। क्यों न शैलेन्द्र ?'

पर शैलेन्द्र जैसे इस गुत्थी को सुलझाने के पक्ष में उतना नहीं था, उलझाने के पक्ष में अधिक। शायद वह जानता हो, यह सब बकवास है!

उसने कहा---'भाई, अपना काम तो दो विद्वानों को मिला भर देना है अब आप जानो।'

तब सुधा ही बीच में बोल उठी थी---'अभी तो आप ठहरे हैं ना? मुझे आपसे इस संबंध में बहुत-सी चर्चा करनी है। और शैलेन्द्र दा ने आपके विषय में बताया ही नहीं ?'

'नहीं तो सुधा देवी, मैं परसों चला जाऊँगा, जाना तो कल ही था पर अभी तो कुछ नहा देखा, लाल किला, इंडिया गेट और...'

'पर जनाब जाओगे किससे पूछ कर ?'

'अरे हाँ, तुम्हीं तो कह रहे थे जब तुम्हें जाना हो चले जाना। भूल गये।' जय ने शैलेन्द्र की बात को ठट्ठे की हँसी में उड़ा देना चाहा, पर तरलता से कोई बात उड़ाई नहीं जा सकती और न शायद मानी जाती हो।

'अभी तो छुट्टियाँ हैं'---सुधा ने कहा।

'हाँ, पर और भी काम हैं, देखिये! आज तो नहीं जा रहा...'

'आज तो आपको जाने कौन देता।' जय ने सुना सुधा बोल रही थी, बोलने में कुछ अधिकार था---अधिकार का अपनत्व या शायद स्वभाव की अभिव्यक्ति, पर सुधा नारी है, नारी झिझकती है, पहिले वह बचती हो

और फिर जब वह अपने आपको असमर्थ पाती तब जैसे आसमान से बरसने वाली सफेद बर्फ के कतलों की भाँति सुहावना मधुर आवरण फैला देती है, जिसमें पत्तों के स्निग्ध और हरित अंकुर भी ढक जाते हैं और पत्थर भी। सब ओर उसी माया की श्वेत दृष्टि निखिल व्योम में छा जाती है।

सुधा ने कमरे से बाहर निकलते हुए कहा--'दा तो आये नहीं, चले न जाइये। मैं चाय ला रही हूँ।'

'यह कष्ट क्यों!'--शैलेन्द्र ने उसे रोकना चाहा।

पर किसी ने शायद उसे सुना न हो, और सुना भी हो तो उसके अर्थ को न समझा हो।

प्रातःकाल की ग्रीष्मकालीन मधुरिमा कितनी सुहावनी होती है! उस समय तपते सूर्य की किरणें विश्व अग्नि के आवे में ढकी भीतर ही भीतर लाल हुआ करती हैं, पर बाहर निकलनेवाली प्रश्वास तो केवल उतनी ही गर्म होती है जितनी मेहनतकश मजदूर की गर्म साँसे--जिसे दूर ही रखा जाता है। और सबेरे-सबेरे हमारे देश भर में कितनी सुन्दरता केन्द्रस्थ हो उठती है। नदियों के किनारे-किनारे के वृक्षों में जब सूर्य की किरणें कहीं छिपतीं और कहीं खिलती निकल आती हैं तब पक्षी चहचहाने लगते हैं और सब एक स्वर में कहने लगते हैं, सबेरा हो गया। शहर में इतने पेड़ कहाँ और न सरिता की धारा ही, पर बड़े-बड़े मकानों की आड़ से कतरा कर आनेवाली किरणें सबेरे का एलान कर ही देती हैं। जय ने वैसे ही सबेरे में अपनी आँखें खोलीं थी किन्तु तब तक मानों उसके अन्तर-मन पर रात्रि का अवसाद शेष था, पर चढ़ते हुए सूर्य के सामने शीत का कुहरा धीरे-धीरे सिमट कर समाप्त हो जाता है वैसा ही उसे अब अनुभव हुआ। सुधा से मिलकर उसे एक क्षण को ऐसा लगा जैसे दोनों की मानसिक भूमि एक-सी हो, भावना की ठोकर से विचारों की कठोर भूमि पर तर्क-वितर्क अपने आप उठना प्रारम्भ हो गये हों। किन्तु किसी बात के लिये उसके पास कोई आधार तो था ही नहीं और सुधा को वह जानता भी नहीं है, वैसे क्षण दो क्षण का जानना अपने आप में पूर्ण भले ही हो पर जिज्ञासा का वह अंत नहीं है, आनन्द की चरम अनुभूति भी नहीं, पर यह प्रश्न

अपने-आप में जितना उलझा हुआ है, सरलता से नहीं सुलझाया जा सकता। जय मानता है क्षण दो क्षण तक जो मिले वह अपना और दूसरे क्षण से पहिले क्षण को नहीं जोड़ लेना चाहिये। जुड़ कर आनन्द नहीं मिल सकता पर यह आनन्द स्थिति से पृथक् नहीं है, घटना में ही आनन्द होता है तो क्या सुधा किसी घटना के पश्चात् की स्थिति में है जैसे तूफान के पश्चात् सागर या जैसे पूर्व की स्थिति में बरसने के पहिले बादल। काले-काले और घने, कहीं काले केशों की भाँति लहरा उठे ..बस !

और शैलेन्द्र का व्यक्तित्व सुधा से मिलकर उच्छृंखल क्यों हो गया? उसी शैलेन्द्र का जिसे वह खूब जानता है तो क्या यही स्थिति अपने आप और इतनी जल्दी बदल जाती है, उसकी नियति कभी सोती ही नहीं है, वहाँ सब कुछ गतिशील है, चेतन, परिवर्तन होना उसका धर्म है, तो क्या...?

शैलेन्द्र स्थिति का लाभ उठाना चाहता है, चाह सकता है किन्तु आज स्थिति का दुरुपयोग बड़ी आसानी से किया जा सकता है। शायद इसलिये कि लाभ उठा लेना व्यक्ति की चतुरता का प्रतीक है, फिर चाहे जैसे, पर यह गलत है, मेरी दृष्टि में बिल्कुल गलत।

मैं लाभ नहीं उठाना चाहता तभी तो आज प्रत्येक स्थान से रिक्त होकर लौट आता हूँ या कहो ऐसी रिक्तता मुझे मिली है जो कभी भरती ही नहीं, न ही ऐसा कोष मेरे पास है जो कभी रिक्त नहीं हो सकता।

शैलेन्द्र की किसी बात पर विस्मित हो जब कमरे में हँसी छा गई तब जय को ज्ञात हुआ वह बहुत कुछ सोच गया, उसकी चाय ठण्डी होना चाहती हो और सुधा कतराई हुई आँखों से देखकर कहना चाह रही हो—'प्रोफेसर साहब, चाय !'

जय ने कहा—'अगर आपको कष्ट न हो, सायं को हमारे साथ चलें, मुगल बादशाहों के शान-शौकत के अवशिष्ट प्रतीकों को देखें, क्यों शैलेन्द्र?'

शैलेन्द्र की ही तो बात जय ने कह दी थी, उसने कहा—'बहुत अच्छा रहेगा सुधा देवी, वैसे तो आपने लाल किया कई बार देखा होगा किन्तु जय किसी खास तरीके से देखने के पक्ष में है।'

सुधा ने चलने की स्वीकृति दे दी।

'पुरुष', हाँ, पुरुष एक-सा ही होता है, उतना ही चतुर और उतना ही कठोर, चतुरता में उसके आगे नारी हार जाती है और उसकी कठोरता में हिम-सी पिघल कर सरिता बन जाती है किन्तु सबके लिये एक-सी ही बात मुझे क्यों मानना चाहिये—सुधा जब चौके में बैठकर खाने के सामान को तैयार कर रही थी तब से जाने क्या सोच रही थी, उसे शायद किसी पुराने व्यवहार की कठोरता याद आ रही होगी जिसकी पुनरावृत्ति आगंतुक के आगमन से मधुरतम रूप में प्रारंभ होती है और जाने के साथ समाप्त हो जाती है।

किन्तु प्रत्येक एक-सा नहीं होता, शैलेन्द्र दा और प्रोफेसर साहब दोनों एक-से हैं पर दा जितने निकट हैं, उतने ही दूर और प्रोफेसर साहब जैसे निकट न होते हुए दूर नहीं है...

पर नहीं, इसमें से कुछ भी सच नहीं है।

सुधा ने सोचा। अपनी बिखरती लट को धीरे से सम्हाल कर फिर एक बार अपने उत्तर को खोजती हुई उसकी आँखें आसमान को छू आईं, तब वह फिर अपने काम में जुट गई।

जीवन में यदि अनुभव की कठोरता न हो तो वास्तव में सरल-स्निग्ध सरिता का प्रवाह कहीं खंडित न होता, कहीं ठिठकता भी नहीं। फिर न किसी को फिसलने का भय होता और न मंजिल तक पहुँचने की दौड़; किन्तु कठोरता में व्यवहार और व्यवहार में सायंजस्य अनुभव से ही आता है, और ऐसा नहीं कि मनुष्य अनुभव निरपेक्ष हो, बिल्कुल नहीं। व्यक्ति को छोड़कर, स्थिति से पृथक् अनुभव कैसा? किन्तु नारी की अनुभूति कितनी सलज्ज और व्यापक होती है, जैसे उसके पास उसे आँकने के लिये विशुद्ध हृदय हो; पर फिर कितनी शंकालु, कितनी सजग जैसे दूध की जली हुई।

सुधा ने अपने आप ही प्रश्न किया—

'मैंने घटना का प्रश्न उनसे क्यों किया, उनसे जो मुझे नहीं जानते और न मैं उन्हें जानती हूँ पर इसमें कोई दोष तो नहीं था?'

तब अपने आप ही उसने उत्तर बना लिया था—'इसमें कैसा दोष ? यही न, मैं नारी हूँ किन्तु जब थी तब । अब नहीं हूँ, नारी होकर हृदय-दान दे दिया तो दिया था किन्तु क्या मिला ? अब ले सकती हूँ—हृदय देना कैसा और फिर प्रश्न और उत्तर, मिलन और वार्तालाप से क्यों दूर होना चाहिये ? अपनी पराजय की प्रतिक्रिया ! हार, हार हो गई तो हो गई; घटना हो गई तो हो गई फिर स्थिति की महान् शान्ति की स्वाभाविकता से कतराना क्यों ? भागना क्यों ?'

'तो क्या मुझे किसी के साथ घूमने जाना चाहिये ?'

'हाँ ! नहीं ! नहीं, नहीं जाना चाहिये ।'

उसने धीरे-से गहरी साँस छोड़ी जैसे वह कोई बात बड़े मानसिक संघर्ष के पश्चात् तय कर पाई हो ।

सुधा को सब जानते हैं, यह दावा तो बिल्कुल गलत है और मानों लोग किसी को ऊपर से, नाम या पते से, शक्ल या तस्वीर से जान लें तो भीतर से भी जानते हैं यह तो माना नहीं जा सकता ।

जहाँ तक सुना गया है इतना ही है कि सुधा का परिवार बड़ा संपन्न परिवार है । माँ और भाई हैं तथा पर्याप्त पुराना पैसा है । सुधा को बी० ए० तक पढ़ाया गया तब पहिले सुधा बड़ी सलज्ज थी, पलकों को उठाने में उसके कपोलों पर लाली दौड़ उठना कोई अस्वाभाविक न था, फिर जैसे उसे लोगों ने बदला हुआ देखा हो । किसी ने किसी से उसकी मित्रता की बात भी कही पर वह बाद में नहीं देखी गई, सुधा ने बी० ए० पास जब किया तब से लगभग एक वर्ष घर से बाहर नहीं गई ।

और फिर अपने समय का सदुपयोग करने के लिये वह बच्चों को पढ़ाती है, कभी हँस बोल ली, कोई बात नहीं । वैसे कुछ बहुत सोचती है, परिचित जानते हैं, वह कुछ ऐसी बात सोचती रहती है जो व्यवहार के साथ उसके मूल पर ठहर जाना चाहती हो ।

वह नये विचारों की है पर पुराने विचारों के आगे जैसे हार मान बैठी हो !

उसने विवाह नहीं किया, अब शायद वह चाहती भी न हो ।

पर वह विरक्त नहीं है, वैराग्य उसे नहीं है, जिज्ञासा उस में अवश्य है पर गहरी उतनी ही—जितनी उथली नहीं।

बीरु बाबू उससे निश्चिन्त हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कुछ भी काम नैतिक नहीं है, नैतिकता एक भ्रम है और जब प्रत्येक में अपनी अकल है तो वह उसे उपयोग में लायेगा ही। प्रत्येक बात बुद्धि पर खरी उतर सकती है। लोग-बाग उनकी इस बात को जानते हैं। कोई भी बात बीरु बाबू के आगे सहज स्वाभाविकता में नहीं गुजर सकती। वे बहुत कम बात पेट में पचा सकते हैं, पर बड़े काम के आदमी माने जाते हैं, मंत्रियों तक उनकी पहुँच है, किसी अखबार में खबरें भेजते हैं। तब जैसे वे बाहर के व्यक्ति हैं। परिवार का संगठन उन्हें महत्त्वपूर्ण नही मालूम होता, तभी तो माँ विवाह के लिये कह कर हार गई, उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि विवाह में सुख क्या, आनन्द क्या ?

और वैसे स्निग्धता का बनावटीपन उनमें नहीं है, राजनीति की खरी यथार्थ भूमि में ही वे सब कुछ सोचते हैं, सब कुछ अपने-आप में कूटनीति है। फिर नारी और पुरुष उन्नति के लिये ही, शान्ति और विकास के लिये घर बनाते हैं, पर वे किसी ऐसी बात के पीछे उन्मादित हैं जो इन सब बातों से अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होगी।

बीरू बाबू को घर लौटने मे पर्याप्त विलम्ब हो गया तब सुधा अनमनी-सी अपने कमरे में अखबार पलटने लगी, वह अनुभव कर रही थी कि उसका स्वास्थ्य कुछ खो गया है, उसका मन अस्थिर हो उठा हो। किन्तु ऐसा क्यों हुआ, यह तो स्वयं भी कुछ सोच न पाती थी।

कभी-कभी जीवन में ऐसा ही होता है और उस समय जब कि यौवन और माधवी मनुहार से पलकों के मुकुल झुक जाना चाहते हों, कोकिल तभी रोक-टोक कर देता है जैसे वह उस मधुवन का संरक्षक हो। तब हृदय में द्वन्द्व का कुहराम मच जाता है, भले ही मधुवन की मदान्धता में एक नही अनेक काँटों की कसक हृदय में पीड़ा पहुँचा रही हो। किन्तु यौवन में हार और जीत का कोई प्रश्न ही नहीं है, टीस और वेदना, पीड़ा और उपालम्भ ही उसके सहयोगी हैं।

किन्तु सुधा इसी शाश्वत अनुभूति के विरोध में अपने मन में एक तर्क उपस्थित कर रही थी—

'क्या जीवन जानते-बूझते एक के बाद दूसरी भूलों की क्रिया का संकलन मात्र है? और इसीलिये मनुष्य की इकाई का यह उद्देश्यहीन परिचालन है। किन्तु ऐसा दिखता नही है। इतना उच्छृंखल जीवन स्वस्थ और सुखी नहीं माना जाता, वह प्रभावी अवश्य होता है, दूसरों की दृष्टि में आश्चर्यजनक भी पर स्वयं की दृष्टि में जैसे अभावों से पूर्ण। और तब अग्नि के समान प्रखर लपटों की शोभामयी लालिमा के पीछे किसे कितना जलना पड़ता है, यह सौन्दर्य-प्रेमी दर्शक क्या जाने?

'किन्तु यौवन उपभोग के लिये है, सहेज कर सुखा देने के लिये नहीं है। उपवन में पुष्प के पराग का मधुपान किये बिना ही तो वह उजाड़ दिया जाता है, धरा पर गिराकर पंखुड़ियाँ बिखर जाती हैं और तब जैसे भ्रमर के आलोड़न में जो रस रिक्त होकर जीवन समाप्त कर देता है, वह क्यों बुरा है, उसे हम अच्छी दृष्टि से क्यों नही देखते?'

सुधा ने यह सब प्रश्न अपने-आप से आज ही किये हों यह बात तो नहीं है—किन्तु उसे अपने प्रश्नों में स्वयं ही उत्सुकता दिखाई पड़ रही थी, जैसे आँधी के पूर्व एक गहरी शान्ति छाई हो और उसी शान्ति की बेला में गहरे विचार तरंगित हो रहे हों किन्तु कोई जान ही न पाया हो!

सुधा ने जय को पहिले एक बार देखा था और तब दूसरी बार उसके साथ बैठकर चाय पी थी, पर यह दो क्षण उसे बहुत परिचित बहुत निकट क्यों मालूम हुए—यह बात साधारणतया उसकी समझ में नहीं आ रही थी, तब शैलेन्द्र दा ने जो उसे बताया था, वह उसे एकदम विश्वस्त क्यों मालूम हुआ—इतना बड़ा व्यक्ति! इतना गहन विचारक! केवल व्यक्ति आयु से ही बड़ा या बुद्धिमान नहीं होता, विचारक और महान् नहीं होता। उसका आयु से उतना संबंध नहीं है, जितना उसके व्यक्तित्व से है। और ऐसा व्यक्तित्व जिसका प्रकाश सहज संपर्क से अपने

आप फैलने लगता है। एक कलात्मक अनुभूति, जय में कितनी है; किन्तु सब कुछ जैसे खोई हुई।

उसकी इच्छा हुई अभी शैलेन्द्र दा के घर जाये और कहे—'आज आप हमारे यहाँ भोजन करेंगे।' पर जैसे किसी अव्यक्त सामाजिक घेरे में बँधकर उसके हाथ पैर नहीं उठे, मन लाख दौड़ गया हो पर शरीर नहीं हिला।

आखिर सुधा को आज क्या हो गया है, पहिले कभी ऐसा नहीं हुआ और तब से तो बिल्कुल ही कभी किसी से मिलने-जुलने की बात उसने नहीं सोची, जब उसे अपनी गलती का आभास हो गया, लोगों की चतुराई का और अपनी सरलता का, पर यहाँ जैसे उसे बिल्कुल विपरीत बात समझ में आई हो। वह जानना चाहती थी जय मेरे विषय में क्या सोचते हैं, मेरे व्यवहार में...!

तभी बीरू बाबू ने कुण्डी बजाई—सुधा को तब होश हो आया। दा आ गये पर दिन का एक बज गया था।

'आपसे मिलने शैलेन्द्र दा आये थे, उनके साथ पूना के प्रोफेसर जयदेव भी थे, बैठे-बैठे चले गये'—जीना चढ़ते-चढ़ते बीरू ने सुना, सुधा बोले जा रही है।

उन्होंने कहा—'अरी सुधा, क्या बताऊँ इन लोगों के मारे तो नाक में दम है, यही राजन के यहाँ गया था न, उनकी माँ बीमार है, अस्पताल में उसे भरती ही नहीं कर रहे थे, बेचारे गरीब हैं न, मैं खुद गया, देर हो गई। कब तक ठहरेंगे प्रोफेसर साहब?'

'मालूम नहीं, शायद दो-एक दिन, थोड़ी देर से आने का कह गये हैं।'

उसी मुद्रा में बीरू ने सब बातें सुन लीं फिर जैसे प्रकट कर दिया हो—'ठीक है, पर अभी तो बहुत जोर से भूख लगी है फिर बात करेंगे।'

बीरू बाबू ने पढ़ा बहुत अधिक है, जब बात करने लगते हैं तो शा, इब्सन, चेखव, प्रेमचंद, प्रसाद, रवीन्द्र की साहित्यिक बातों को अपनी बातचीत में अवश्य ले आते हैं, राजानीति की बात पृथक् है, फिर भी

साहित्य उन्होंने पढ़ा है, पढ़ने का शौक है, इनकी बातों को पढ़ कर जैसे वे बड़ी और छोटी, सही और गलत, भ्रामक और मनो वैज्ञानिक बात का निष्कर्ष निकाल लेते हैं। सुधा भी जानती है, पर सुधा अपने दा की साहित्यिक अभिरुचि की पक्षपातिनी नहीं है, कुछ फालतू का व्यय, इससे अच्छा उपयोगी काम उसे पसंद है, कोई खेल खेलना, सैर या सिनेमा! भाई-बहिन दो विरोधी छोरों की ओर बढ़े हुए प्रतीत होते हैं पर ठीक-ठीक यह भी कह सकना कठिन है, सुधा दर्शन में अपने को उलझाना चाहती है और व्यवहार में बिल्कुल संसारी बनने की उसकी उत्कंठा कभी-कभी प्रकट हो जाती है पर बीरू बाबू विचारों और व्यवहार में बुद्धिवादी हैं, उनके तर्क व्यावहारिक होते हैं।

भोजन करने के बीच में सुधा ने बड़े ही संतुलित ढंग से पूछ ही लिया कि क्या वह आज शैलेन्द्र दा के साथ लालकिला देखने चली जाये? तब जैसे सुधा को भी संकोच हो रहा था और बीरू बाबू को भी। बीरू को जैसे इन सब बातों से उतना कोई मतलब नहीं था पर जैसे वह जानना चाहता था, अभी तक तो सुधा ने कहीं जाने-आने की बात उससे नहीं पूछी, आज ऐसा क्यों? पर इसका भी उत्तर उसके पास ही था—शायद माँ नहीं है तभी।

और सुधा सोच रही थी, दा क्या सोचेंगे, यद्यपि दा को उसकी सब बातों का ज्ञान नहीं है, उसे उन सब बातों से अँधेरे में ही रखा गया फिर भी यह बात स्वयं उसे अच्छी नहीं लग रही थी।

वीरेन्द्र ने हाँ कर दिया जैसे उसने कुछ सोचा ही न हो। एक शान्त गम्भीर मुद्रा में, जैसे उस विश्वास हो। सुधा भी विश्वस्त हो गई।

नारी में यह विश्वास अधिक होता है, पुरुष में उतना ही कम। नारी जिस सामग्री की उपज है उसमें शायद दया, माया, ममता और विश्वास की अधिकता है, उसके अंग प्रत्यंगों में ये उपकरण बिखर पड़े हैं। उसकी सलज्ज चितवन में, उसके समधुर व्यवहार में और उसकी संतुलित पग-ध्वनि में जैसे सब कुछ अन्तर ही की बाह्यानुभूति ही तो है; पुरुष उससे पृथक् है, कठोर। पुरुष की बाह्य कोमलता अंतर की भयंकर कठोरता की

सूचक है किन्तु ये दोनों विरोधी नहीं है, जीवन के पूरक हैं, लेकिन, प्रत्येक का पूरक नही हो सकता, नहीं तो क्यों सुधा के विश्वासों पर पानी फेर दिया जाता, क्यों उसे उसकी सरल स्निग्धता से कठोरता की ओर मोड़ दिया जाता !

●

पाँच . . .

संसार में आज कितना दृष्टि-भेद है। कोई अपने विचार को सबसे महत्त्वपूर्ण और परिपक्व समझता है, तो दूसरा अपने विचारों और क्रियाओं को। लेकिन शायद संपूर्ण विश्व की इस आकर्षक हलचल से पूरी तरह कोई भी परिचित नही। कोई इसे देखकर प्रश्न करता है, जिज्ञासा होती है, कोई संसार को देखकर उसकी मादकता में अपने-आपको निमज्जित कर लेना चाहता है, कोई इससे भागना है तो कोई इसमें घुसने की कोशिश करता है।

और देश-विदेश के विचारों में कितना अन्तर है, जैसे प्रत्येक का दृष्टिकोण दूषित हो, शायद इसलिये कि वह अपने स्वार्थ और संकीर्णता के चश्मे से देखता है, चाहे वह सबसे प्रगतिशील साम्यवादी या समाजवादी हो, या सबसे पिछड़ा हुआ साम्राज्यवादी, चाहे वह जीवन के बहुजन हिताय वाले सिद्धान्त का अनुयायी हो, चाहे व्यक्ति की एकांगी पूर्णता का कायल। पर सब जैसे अपने को केन्द्र-विन्दु बना जीवन की धुरी पर घूमना चाहते हैं—घूमते भी है।

और कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इनसे कुछ ऊपर उठे हुए, बिल्कुल निस्पृह। उनके विषय में लोग क्या अनुमान लगाते है ? कुछ भी लगा सकते हैं पर हमारे देश में शायद इसी त्याग की भूमिका में मनुष्य को महान् माना गया है। प्राचीन काल में उसका रूप पृथक् था, इस समय भी पृथक् है, किन्तु इस प्रकार का वर्ग साधारण तो नहीं है—जय का कुछ

ऐसा ही विचार है। उसके सोचने का ढंग ऐसा लगता है जैसे, पृथक् हो। उसकी डायरी के पन्ने में ऐसे कितने तर्क-वितर्क मिलते हैं जिन्हें देखकर यह पहिचानना कठिन है कि जय के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता क्या है? वह व्यक्ति की इकाई का पक्षपाती है पर समाज की व्यवस्था और सामाजिक प्रगति में अविश्वास नहीं करता। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। अस्तित्व की स्वीकृति चाहे वह अपनी हो या दूसरे की—यही मनुष्य को उन्नत कर सकती है।

किन्तु आज मनुष्य क्या चाहता है, शायद यह उसके सामने स्पष्ट नहीं है? हमारे देश के विचारक युवक द्वन्द्व और विरोध में विश्वास करते हुए भी यदि स्वयं उस स्थिति में हो जायें तो वही करते हैं जिसका विरोध वे बड़े कड़े शब्दों में करते चले आते हैं। फिर व्यवहार और सिद्धान्त में कितना अन्तर है? प्रत्येक नेता सिद्धान्तवादी बन कर उठता है पर व्यावहारिकता वह जीवन से, चक्र से पृथक् नही हो पाता, जैसे यह संपूर्ण विश्व विनाश और सृजन के पालने में स्वयंचेता स्रष्टा के इंगित पर घूम रहा हो। पर इसका कोई बौद्धिक समाधान नहीं है और इस युग में ऐसे लोगों के प्रति कोई सम्मान नहीं है, जो ऐसा सोचते हैं। सोचनेवालों से वे कहीं अच्छे हैं जो कुछ करते जाते हैं।

और शायद शैलेन्द्र को जय पहिले ऐसा ही समझता था। व्यावहारिकता के संबंध में जय की राय शैलेन्द्र के विषय में बहुत अच्छी थी, थी क्या है, दिल्ली आने तक रही, पर इन चौबीस घंटे की घटनाओं ने शैलेन्द्र को जय के सामने जिस रूप में प्रस्तुत किया वह उसके सोचने का विषय बन गया था।

तो क्या शैलेन्द्र अभी-अभी ऐसा बदला है, कोई तीन-चार साल में इतना व्यावहारिक और सिद्धान्तप्रिय। मिलनसार और हँसमुख, अब जैसे ऊपर से उसमें कोई अन्तर नहीं है पर भीतर वह क्या है यह बात समझ में नहीं आती? सुधा के साथ उसकी यह निकटता और वह व्यंग्य, तीखापन फिर युवती नारी के साथ वैसी ही स्वच्छन्दता!

आय के संबंध में उसकी जय से घंटों वार्ता हुई थी। उसका विश्वास है संसार में सचाई और ईमानदारी से न पैसा ही कमाया जा सकता है और न नाम और इज्जत। एक, दो, चार व्यक्तियों के हृदयों में श्रद्धा हो इसमें क्या है, पर दिल्ली में जो इतना पैसा उमड़ा पड़ रहा है, ईमानदारी से और सचाई से कमाया हुआ नहीं है और उसका तर्क था—देखो न ये बड़े-बड़े पदवाले लोगों की आवश्यकता क्या एक गरीब क्लर्क से दस-दस बीस-बीस गुनी अधिक होती है—जो उन्हें इतने पैसे दिये जाते हैं, यह रिश्वत नहीं है तो और क्या है? नेताओं के नाम को चलानेवाली मशीन को जितना अच्छा, जितना व्यवस्थित रखा जायगा उतनी ही उनकी लोकप्रियता बढ़ेगी और यह सब पैसे के बल एकत्रित योग्यता की संकलित शक्ति है—जो राज्य बन गया है।

और आज तो जनता का राज्य है, जानते हो जनता की परिभाषा क्या है—लोक-कल्याण के लिये, लोक-मंगल के लिये किया गया सामूहिक प्रयत्न। यह सब धोके की टट्टी है? पर जय ने उसके विचार की थाह लेने के लिये उसे छेड़ ही दिया तो अच्छा हुआ।

जय की विचार-शृंखला तीव्रता से उसके मस्तिष्क को भरती चली जा रही थी, तब वे सब बातें जैसे पुस्तक पर अंकित विचारों के पृष्ठ के पृष्ठ बन गई थीं।

उसने कहा था—यह सब कुछ नहीं है, पहिले राज्य-सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में थी, उसके एजेण्ट काम करते थे। अब राज्य-सत्ता सबके हाथ में है। इसका मतलब क्या है? किसी के हाथ में नहीं है और है तो उन एजेण्टों के हाथों में जो इतने निपुण और धूर्त होते हैं कि सुन्दर-सुन्दर वाक्यों के आवरण में वही करते हैं जो अभी तक हुआ है। तुम मेरी ही बात लो। शायद तुम्हें नहीं मालूम, आर्थिक संकट से परेशान होकर जब मैं नौकरी पर तुल गया था तब क्या सहज रीति से ही यह साढ़े तीन सौ रुपये की नौकरी मुझे मिल गई? मैंने क्या नहीं किया और तुम अपनी बात देखो, तुम्हारी योग्यता और चरित्र में अपने राज्य में तुम्हारी आयु का कोई भी व्यक्ति तुम्हारी तुलना में नहीं रखा जा सकता—तुम्हें नौकरी

करने के लिये आठ सौ मील दूर जाना पड़ा। क्या यह तुम समझते हो कि तुमने जो किया वह ठीक किया? मैं कहूँगा जो मंत्री तुम्हारी प्रशंसा किये थकते नहीं थे, तुमने उनसे यह सब क्यों नहीं कहा? और भी तो कई साधन थे, तब तुम स्वतंत्र देश के नागरिक की भाँति आत्म-रक्षा और स्वाभिमान में कड़क कर मुझसे कह देते थे—'यदि मैं भी ऐसा ही करूँगा तो फिर साधनहीन योग्य व्यक्तियों को राष्ट्र-कल्याण में योग देने का अवसर कब आयेगा।' पर अब तो देख ली अपनी बात। यह तो हुआ उदाहरण। व्यवहार तो इससे भी बुरा है। तुम्हारी नैतिकता और ईमानदारी पर मुझे तरस आता है जय।

वास्तव में एक बार तो जय का मस्तिष्क इन सब बातों पर सोचने के लिये बाध्य हो गया था—और क्यों नहीं होगा, उसके तर्क अपने में सम्बलहीन थे, एक काल्पनिक व्यक्ति की अनुभूति कितनी ही गहरी क्यों न हो किन्तु वह व्यावहारिक तो नहीं होती।

'तो क्या शैलेन्द्र भी कम्युनिस्ट विचारकों की भाँति सोचता है?'—जय का अनुमान था, पर संध्या को हराये कार्यक्रम के लिये निकलने के पहिले फिर से वही बात निकल पड़ी।

जय ने कहा—'अच्छा यह तो बताओ यह स्थिति खराब है, दूषित है पर क्या विदेशियों से अच्छी नहीं है और क्या और देशों में ऐसा नहीं होता?'

'नहीं भाई, तुम मेरी बात नहीं समझ पाये'—शैलेन्द्र ने उसकी बातों का उत्तर अपनी बड़ी ही मधुर शैली के साथ दिया—'बात यह है कि हमारे देश की यह स्थिति गुलामी की जिन्दगी से करोड़ गुनी अधिक है और संसार के अन्य राज्यों से भी सुन्दर है; पर मैं आदमी की बात कह रहा हूँ जो सिद्धान्त बनाता है पर उसी पर नहीं चलता और इस 'व्यक्ति' में उन्नत बनाने की भावना का अभी अभाव है। वह चित्र जिस दिन प्रारंभ होगा, हम भी उसी के अनुसार बन जायेंगे। तब तक के लिये हमें क्यों अवसर का लाभ न उठाना चाहिये? और भाई मैं तो आदर्शवादी नहीं

रहा, दिल्ली में आ कर अनुभव ने मुझे ऐसा बना दिया तो और कोई चारा भी तो नहीं था।'

जय समझ रहा था, बात साफ है कोई उलझन उसमें न थी और इस कारण वह उसकी दृष्टि में कुछ गिर गया है यह भी तो वह मानने को तैयार नहीं था, उसे उसकी इस परिवर्तन-अवस्था पर आश्चर्य और कौतुहल-मात्र था, फिर भी उसने उदासीनता न दिखाई।

शैलेन्द्र को जय से हार माननी पड़ी, कम से कम जय ने तो यही माना और शैलेन्द्र जैसे एकबार डिग तो गया था।

सुधा के घर जाने के पहिले कितने विचार उसके मस्तिष्क में संकलित हो गये थे।

शैलेन्द्र के अनुसार तो बात बिल्कुल साफ है—कोई सोच नहीं, विचार नहीं। तो क्या मैंने जो किया केवल इसीलिये कि मै भी उसी पीड़ा में जीवन भर डूबा रहूँ। जिज्ञासा के पीछे उन्मादित होकर विश्व के इस संतुलित रहस्य को पहिचानने का प्रयत्न करता रहूँ—यह सब कुछ अव्यावहारिक है, केवल भावना प्रधान!

पर उसके हृदय के एक कोने से कोई मसोस कर यही कहता था—'शैलेन्द्र का कथन सच नहीं है, ईमानदार नहीं है यद्यपि लाभदायक है; भौतिक सुखों के अम्बार लगा सकता है, अधिक से अधिक अनुभव आ सकते हैं और संसार की दृष्टि में कोई गिरने की बात नहीं?' अब उसके मस्तिष्क में पहेली पहेली न हो कर घटना बन रही थी, शायद सोचने भर के लिये।

तब क्या राधा का मेरे निकट आना, स्नेह की धूप-छाँह में खोये रहना क्या इस बात का प्रतीक था कि मुझे भी वैसा ही हो कर उसके प्रेम की पूर्णता दे देना चाहिये था। तब शायद यह विचार-संघर्ष समाप्त हो जाता। विचार विचार मात्र रह कर कितना परेशान करते हैं, पर किसी घटना से संबंधित हो कर तब जैसे और शीतल और शान्त, स्निग्ध और मधुर हो जाते हैं। यही बात सच समझ में आती है। राधा के साथ घटना बनाई जा सकती थी, इतना अवकाश था; पर मेरा मन उसे देख कर व्यथित हो उठता है, उसके जीवन को देख कर मेरे प्राण किसी उन्माद में

डूबने लगते हैं--भावुकता चाहती है, उसे इन हाथों का सम्बल देकर जीवन भर के लिये सुखी बना दूँ। पर यह नहीं हो सकता। यह तो प्रेम का दुरुपयोग है।

और तो क्या प्रेम की अन्तिम परिणति विवाह है? और विवाह भोग की स्वच्छन्द स्वीकृति, वैधानिक अधिकार। कितनी गलत बात है! शरीर के लिये भोग अन्तिम परिसाधना हो सकती है, पर केवल शारीरिक जीवन ही तो जीवन की पूर्णता नहीं है--और फिर शरीर को छोड़ कर आत्मा क्या है, उससे प्यार क्या और कैसा? क्या कोई ऐसे व्यक्ति से भी प्यार कर सकता है जिसका अस्तित्व न हो?

जय जितना सोचता जा रहा था, बात उतनी ही उलझ रही थी।

यह प्रश्न उसके लिये नया नहीं था। बहुत पुराना है, ऐसा उसकी डायरी के पन्ने पलटने से मालूम होता है और इन्हीं के आधार पर उसके कुछ सिद्धान्त भी बन गये थे। तभी तो प्रत्येक बात का एक नैतिक आधार वह खोज रखना चाहता था।

बात साफ यह है--जीवन के प्रारंभिक दिनों में वह अनुशासन-प्रिय, कठोर, नैतिकवादी और राष्ट्रवादी रहा, तब उसके सामने एक ही समस्या थी। किस प्रकार देश को गुलामी की जंजीरों से मुक्त किया जाय? उसके प्रयत्नों में विश्राम कैसा--उसके अंतराल में कोई अन्य बात सोचने के लिये स्थान कहाँ?

यहाँ तक परिवार से मुक्त हो कर रात-दिन एक ही धुन में वर्षों बीत गये--तभी उसके अध्ययन काल में कितने ही उसके निकट आये--पर जैसे किनारा छू कर लौट गये हों। उस समय उसने कुछ समझ पाया हो यह बात नहीं है और तभी तो आज जब वह सब बातों को गहराई से सोचता है तो सोचता ही जाता है।

उसी समय उसका विवाह हो गया। देश की स्वतंत्रता के बाद--क्रिया मरने लगी, तब वह अधिकतर पढ़ने-लिखने में ही व्यस्त रहने लगा। फिर भी नारी उसके लिये निकट होकर भी दूर ही रही। समाज के उत्तर-दायित्व के लिये उसने विवाह का विरोध भी दबी आवाज में किया, किन्तु

तब शायद वह नहीं जानता था, विवाह और भोग से पृथक् कुछ नहीं है। और है जो इस सब में है? पर इनमें पृथक भी है, ऊपर भी है।

और राधा के साथ बढ़नेवाले इस मौन संपर्क ने एक दिन उसे इतना सोचने पर मजबूर कर दिया कि वह सब बातें सोचता ही रह गया। उसने राधा के शरीर को स्पर्श तक नहीं किया शायद इसलिये कि वह समाज की व्यवस्था को भंग करने का अपराध नहीं करना चाहता था। वह राधा को भुला न सका—शायद इसलिये कि सचाई और ईमानदारी से राधा ने उसकी जिंदगी को बदल दिया था—कोई बात उच्छृंखल नहीं, जैसे वह युवती मानों संतुलन की साकार प्रतिमा हो और फिर भी वह पत्थर नहीं है, तो क्या जय पत्थर बन जाये?

फिर समाज में उसकी भावुकता के प्रति कितने प्रश्नवाचक चिह्नों की झंडी न लगी थी? वह भी अपना दायित्व समझता है तभी तो राधा को राधा बनाये रखने के लिये वह सब कुछ कर सकता है, वह कृत-संकल्प है।

शैलेन्द्र ने घर का दरवाजा बन्द करते हुए जय से कहा—

'तुमने यह तो पूछा ही नहीं—मैं सुधा को कैसे जानता हूँ। पहिले तो कभी मैंने ऐसी जान पहिचान न की थी, कहो भाई! सहास ही न किया था। पर अब उन सब दकियानूसी बातों में क्या रखा है?'

और जय सुन रहा था—उसके पास उत्तर देने को कुछ था ही नहीं। पर बात सच थी। उसने इतना ही कहा—

'यह दिल्ली है मित्र! एक ऐसा नगर, जिसके बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुमान लोग लगाते हैं। पर मैं अब अनुमान नही लगाना चाहता—इसे देखना चाहता हूँ। सुनते हैं यहाँ चोर-बाजारी से लेकर नारी-सौंदर्य का सौदा मिनटों में तय किया जाता है। आखिर तुम्ही बताओ सुधा कौन है?'

'तुम पहिचान लोगे अपने आप, थोड़ा सब्र तो करो'—शैलेन्द्र की बात सुन कर जय को आश्चर्य हुआ।

आश्चर्य की बात भी थी। शैलेन्द्र क्या चाहता है और सुधा क्या जितनी शकल से भोली है, हृदय से वैसी ही है, जैसा दिल्ली की पढ़ी-लिखी लड़कियों के बारे में लोगों ने अनुमान लगा रखा है।

मनुष्य कैसा विचित्र है! साधारण और सरल रीति से कोई बात [illegible] पसंद नहीं करता और काई एक चश्मे से संसार को देखकर एक दम घोषणा कर देता है---यह संसार इन्द्रजाल है, धोखा है।

दूसरा अपनी दृष्टि से देखकर कहता है, यह इन्द्रजाल नही, सत्य है, ठीक भी है। और फिर सचाई सचाई बनी रहती है।

समाज की यह व्यवस्था कुछ लोगों के हिसाब से सड़ चुकी है और इसलिये इसमें सुधार कैसा, सृजन की बात ही क्यों? नई व्यवस्था लाने के लिये नये प्रयत्न नये प्रयोग वे करना चाहते हैं और साथ ही कुछ लोगों के लिये यह व्यवस्था अपरिवर्तनशील है। जड़ है, तभी तो उससे चिपके रहना चाहते हैं। जय यह दोनों बाने ही उचित नही समझता है। समाज-व्यवस्था रूढ़ नहीं होना चाहिये, नही तो वह विकासशील और उन्नत नही हो सकती। उसमें समय और आवश्यकतानुसार परिवर्तन अपेक्षित है। वे परविर्तन बड़ी मंथर गति से होते हैं, होना उनका धर्म है और विकास प्रकृति का नियम। किन्तु समाज की व्यवस्था में सड़ने न सड़ने की कोई बात नहीं है। व्यवस्था के सांस्कृतिक इतिहास में जिसके द्वारा संसार में सबसे उन्नत और समृद्ध राष्ट्र होने की घोषणा पूर्व में हुई, एक बार नही अनेक बार वह व्यवस्था जड़-मूल से सड़ चुकी है, यह बात उचित नहीं प्रतीत होती और नई व्यवस्था का जलवायु वहीं ठीक नही उतर रहा जहाँ उसका जन्म हुआ, तो क्या इससे यह सिद्ध नही होता कि व्यवस्था का आधार अत्यन्त दृढ़ विश्व मानव की कल्पना से पूर्ण एवं विश्व संस्कृति का प्रतीक व्यवस्था का स्रोत हमारा अपना है जो सदियों की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका है, जिसमें श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य है, किसी एक की महानता नहीं। जहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की यथोचत सीमायें हैं। भोग और त्याग के अपने मानदंड हैं।

किन्तु आज भी स्थिति में कहीं-कही विकृति ने संस्कृति को ऐसा ढक

लिया है कि अनुमान लगाना कठिन है। जो दृष्टि ऊपर ही ऊपर सब बातों को देखना चाहती है उसे कुछ नहीं दीखता, कुछ नहीं सूझता।

शैलेन्द्र की इस बात से जय और कुछ सोच रहा था। तब सुधा के निकट पहुँच कर उसके हृदय की गहरी से गहरी बात वह जानना चाहता था। केवल जिज्ञासा ही तो थी, और शायद कुछ न हो।

वैसे स्निग्ध मधुर व्यवहार प्राणों में क्षण दो क्षण को ही क्यों न हो, शान्ति प्रदान करता है—उसकी अपेक्षा वह कभी न समाप्त होनेवाले उसी प्रश्न में एक लड़ी और जोड़ रखना चाहता था।

'नारी रहस्यमय है, या पुरुष ने उसे मान भर रखा है तो क्या शैलेन्द्र ने जो कुछ सुधा के विषय में कहा है वह झूठ है?'

'किन्तु एक अपरिचित के विषय में वह कैसे अनुमान लगा ले और फिर शैलेन्द्र की बात पर अविश्वास भी तो नहीं किया जा सकता।'

बीरु बाबू आगन्तुकों की प्रतीक्षा में थे—वैसे वे बहुधन्धी हैं, घर पर बैठ कर किसी की प्रतीक्षा करना उनके लिये बहुत कठिन है। पर उनके स्वभाव में किसी से दिल खोल कर मिलने की बात सबसे पृथक है—शायद इसीलिये उनका परिचय असीमित है।

और जब शैलेन्द्र की आवाज उनके कानों में पहुँची, उन्हें न तो विस्मय हुआ और न कौतूहल। सहज ही आराम-कुर्सी पर लेटे-लेटे उन्होंने कह दिया—'अरे भाई, चले आओ!'

शायद बीरू बाबू भूल गये थे, अकेला शैलेन्द्र ही नहीं और भी कोई उनके साथ है। पर यह तो स्मृति की बात है और उसके लिये एक या अनेक एक से हैं जिसे किसी से कुछ नहीं लेना। ध्यान तो उसे रखना पड़ता है जो उपस्थिति से लाभ उठाना चाहता है।

जब जय और शैलेन्द्र कमरे में पहुँच गये, साधारण शिष्टाचारवश बीरू बाबू उठ खड़े हुए और अपने आप ही हाथ मिलाते हुए कह उठे—'आप ही हैं प्रा० जयदेव, पूना!'

'जी।'

'बहुत खुशी हुई आपसे मिलकर, भाई यहाँ तो आसामाजिक व्यक्ति हैं, सुना आप बैठे-बैठे चले गये।'

'जी हाँ'—शैलेन्द्र ने कहा—'हम सुबह आये थे। प्रो० साहब मेरे बड़े निकट के मित्र हैं, सोचा आप से भी मिला दूँ और सुधा से भी। अजीब मिशन है इनका। कुछ बातें सोच रखी हैं उन पर चलते हैं और विश्वास रखते हैं कि यदि संसार चले तो आज का संघर्ष, यह दैन्य, यह दुराव सब कम हो जाय।'

'अरे भाई!'—बीरू बाबू ने कहा—'यहाँ तो कुछ भी मिशन नहीं है और आज दुनिया में कुछ मिशन तो ऐसे हैं जो कुछ नया करने की सूझ-बूझ के फल हैं पर करना पृथक् बात है और उस पर दार्शनिक की भाँति सोच लेना पृथक्। प्रो० साहब मैं आपके मिशन की बात नहीं कह रहा।'

'नहीं साहब, आप ठीक कहते हैं, विचार और क्रिया दोनों की सत्ता पृथक् है किन्तु किसी विचार की पूर्णता या सफलता का मापदंड क्रिया है? अब आप समझ लीजिये जो केवल क्रिया करते हैं या केवल विचार करते हैं, वे कुछ नहीं हैं, अति साधारण। यही वैचित्र्य तो आज की विशेषता है।'

जय ने बीरू बाबू के उत्तर में यह कहा था—पर शायद उसे नहीं मालूम था बीरू बाबू तर्क में हारते नहीं हैं।

वे चट से बोल उठे—'मगर प्रो० साहब, आप तो बात कह रहे हैं वह साधारण नहीं है। जीवन में संतुलन को माननेवाला व्यक्ति सफल होता है किन्तु संतुलन को छोड़ कर ही कुछ किया जा सकता है, विकास का श्रेय तोड़ कर चलनेवालों को मिलाना है—बर्नड शा का भी कुछ ऐसा ही विचार है।'

जय सोच रहा था—यह व्यक्ति भी कैसा है, अपने आप में सुलझा हुआ पर उसके व्यक्तित्व में दुराव या छिपाव की कोई बात नहीं, सब कुछ मानो साफ हो—उसने अपनी मुद्रा से यह प्रकट कर दिया—आप ठीक कहते हैं।

शैलेन्द्र को वाद-विवाद से प्रेम नहीं है, वह क्षणिक आनन्द का पक्षपाती है, तभी तो इतने दिनों जय के साथ रह कर भी उसने कभी घण्टों उससे बहस न की। उसने घड़ी देखी और बीच में ही आवाज लगाई—

'सुधा! अरे सुधा—क्या चलना नहीं है—फिर देर से पहुँचने पर किला कैसे देख सकते हैं।' बीरू बाबू को शायद याद ही नहीं था।

भीतर से आवाज आई—'चाय ला रही हूँ—बस पाँच मिनट। अभी चलती हूँ।'

तब थोड़ी देर इधर-उधर की बातें हुईं, जय कहाँ का रहनेवाला है, किस पार्टी से संबंधित है, साहित्य में उसे कौन-कौन प्रिय हैं, आदि।

और वाकई बीरु बाबू की मुद्रा इस बात को प्रकट कर दे रही थी कि वे जय से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। प्रभावित भी बहुत।

किन्तु जय ने क्या समझा, यह उसने अपने मुख पर प्रकट न होने दिया।

तब चाय पी कर वे लोग चल पड़े। सुधा ने जाते समय भाई से आज्ञा माँगी—तब बीरू बाबू ने कहा—

'जल्दी आ जाना, मैं रात देर से आऊँगा।'

'अच्छा।'

जय, सुधा और शैलेन्द्र के साथ जब चाँदनी चौक पर आ गया तब भी जय कुछ और ही सोच रहा था—उसे रह-रह कर थोड़ी देर पूर्व की बात याद आती थी—और उसके साथ बीरू बाबू की आकृति। ऊँचा पूरा स्वस्थ शरीर, गोरा बदन, उलझे हुए बाल, कपड़े भी साधारण; और उसमें बैठा हुआ अत्यन्त विनोदी पर विद्वान व्यक्तित्व। फिर यह जीवन से निस्पृह क्यों है? उसके जीवन में जैसे कोई नहीं आया हो तभी तो। पर जय को क्या पता—वह सोच रहा था—तो क्यों न सुधा से ही सब बात पूछ ली जाय? और फिर सुधा, शैलेन्द्र! ये सब क्या है?

उसने अपने-आप से जैसे कहा हो—कुछ नहीं, कोई नहीं अगर कोई आज सुधा को इस रूप में मेरे साथ चलते हुए मेरा परिचित देखे, तो क्या

कहेगा—क्या सोचेगा ? क्या मेरा और सुधा का वास्तव में कोई संबंध है, कुल बारह घंटे जिससे परिचित हुए हुआ है ।

सुधा ने तभी टोक दिया हो—

'प्रो० साहब इधर नही, वहाँ मोटर-रिक्शा मिल जायेगा ।'

अभी कुछ नही हुआ था, जय जैसे कुछ क्षणों को अपने विचारों से दूर कर दिया गया था...पर वह बहुत देर ऐसा न कर सका ।

तब उसे अनुभव हुआ वह सुधा के साथ चल रहा है, सुधा का रूप, उसका यौवन उसकी चाल-ढाल सब बहुत संयत थी, शायद बहुतों को यह संयम प्रिय न हो पर जय को था । नपे-तुले कदम, समयानुसार बातचीत । पर क्या यह कोई कह सकता है, जय या शैलेन्द्र उसके परिवार के व्यक्ति नही हैं । यह आत्मीयता बहुतों में जन्मजात होती है तब दूसरे भी उनके साथ मिल कर उन्हें अपने मालूम पड़ने लगते हैं । और कुछ ऐसे भी होते हैं जो आत्मीयों के साथ पराये मालूम पड़ते हैं ।

शैलेन्द्र बीच-बीच में इधर-उधर देख लिया करता था, जैसे यह देख रहा हो, लोग उसे सुधा के साथ जाता हुआ देख कर क्या कहेंगे—उसका मन जो शंकित था—पर क्या सुधा भी कुछ सोच रही थी ? शायद नही ।

और जय के लिये अभी भी सोचने-विचारने को बहुत था ।

जैसे ही वे लोग मोटर-रिक्शा में सवार हुए, उसके पहिये के घूमने के साथ ही जय के विचारों का प्रवाह घूम रहा था । सुधा उसी के पास दाहिनी ओर बैठी हुई थी और शैलेन्द्र आगे । तब जैसे वह अपने-आप में खो गया था ।

उसे ऐसा मालूम हुआ । वह छः वर्ष पहिले की स्थिति में है । सबसे पहिले जब उसकी भाभी ने उसका हाथ पकड़ कर किसी के प्रकोष्ठ में ढकेल दिया था और बाहर की साँकल चढ़ा दी थी तब के वाक्य उसके मस्तिष्क में गूँज रहे थे—'ऐसे काम नही होगा भैया, बड़ी-बड़ी कल्पना करते हो—अब जरा कविता को साकार तो देख लो ।'

तब नारी के उस प्रथम साक्षात्कार में कितना वैचित्र्य था ! वैसे कालेज में पढ़नेवाले युवकों के लिये युवती के रहस्य को समझने में देर नहीं

लगती। पर तब शायद जय की आँखों के सामने एक ऐसा परदा पड़ा हुआ था, जिसमें सब हरा ही हरा दिखाई पड़ता था।

नारी को—युवती को पास पा कर उसका हृदय कितना गद्‌गद् हो गया था, कितनी महानता रहती है उसमें—जो कौमार्य के सलज्ज कौतूहल में श्रद्धा के साथ किसी को अपना बना लेती है, वहाँ विवाह की वह महत्ता अपनी समता नहीं रखती। जय ने रानी में सब कुछ देखा—पर वही जो कर्त्तव्य अधिक था निजी शायद कुछ नहीं। तभी से उसने जय को ऐसा बना दिया। कर्त्तव्य से विमुख होने पर उसे कितनी पीड़ा होती है, शायद उस प्रथम दिन की वह मनोहर मूर्ति उसके प्राणों से कभी न दूर हो सकेगी।

तब उसे ऐसा लगा, जैसे रानी उसके निकट आ कर उससे कह रही हो—'मैंने अपनी साधना पूरी कर ली, पर तुम कहाँ हो?'

नहीं वह ऐसा नहीं कह सकती।

जय को एक धक्का लगा। तभी सुधा का हाथ जय के हाथ को छू गया। उसने कहा—

'माफ करिये।'

पर सुधा मुस्करा दी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

जय का ध्यान भंग न हुआ। गृहस्थ जीवन की उस मंथर गति से उसने बहुत काम साक्षात्कार किया है, पर उसके ईमानदार मन में उसके प्रति जो जागरूकता है वह कभी मिटती नहीं है।

'तुम जब मुझसे दूर रहते हो—सच बोलो कभी मेरी याद भी करते हो'—रानी ने शायद उससे कभी पूछा था।

और तब जय ने अपने नेत्रों को रानी के बदन पर टिकाते हुए क्या कहा था—

'कहीं भी रहूँ, पर तुम सदा साथ रहती हो, अगर तुम न होतीं, मैं पता नहीं क्या होता, रानी! कहाँ होता? यही संघर्ष है—जब तुम्हें नहीं देखा था, तब किसी को इन आँखों से देख ही नहीं पाता था और जब से तुम्हें देख लिया है तब से तुम ही तुम दिखाई पड़ती हो।'

यह बात क्या यथार्थ रूप में सच है। मैंने तब रानी को व्यवस्था की आवश्यकता, सौन्दर्य और प्रेम की आराध्या और विश्व की मांगलिक रहस्यों की जननी मान लिया था, शायद नहीं; तब रानी मेरे लिये अपरिमित श्रद्धा की सामग्री थी, जैसे कि पुराने उच्च परिवारों में होता है। सौन्दर्य की शालीनता उसकी अपनी है, भोग और आनन्द की स्रष्टा है पर जैसे सब बँधा हुआ, आधिकारिक हो।

उसने कहा—'कुछ भी हो मैं विश्वस्त हूँ। कोई दूसरा भी तुम्हारे लिये अपने प्राण उत्सर्ग करने लगे उसे निराश मत करना।'

तब क्या रानी ने मेरे ऊपर व्यंग्य किया था? क्या वह इस बात को जानती है कि कोई और भी जाने-अनजाने में मेरे निकट आया और व्यवस्था के लिये उसे उत्सर्ग करना पड़ा। तो क्या वह राधा को जानती है, शायद हाँ, शायद नही भी।

पर नारी जो है, वह अपने जैसे सबके हृदयों की बात जानती है, कह सकती है। पुरुष की भाँति एकांगी वह नही है। मेरे इन दिनों के साहित्य को पढ़ कर उसने एक पत्र में लिखा था—

'ऐसी पीड़ा क्यों लिखते हो, ऐसा लगता है तुम्हारे अन्तरद्वन्द्व में व्यवस्था और व्यक्ति की लड़ाई है पर सच लिखना कुछ हल मिला या नहीं?'

मैंने एक दिन सोचा रानी को सब लिख दूँ। सब क्या, यही कि जाने-अनजाने में राधा मेरे निकट आई तब शायद उसे भी नहीं मालूम था और न मुझे कि यह व्यवस्था हमारे लिये, हमारे स्नेह के लिये कोई स्थान नहीं दे सकती और क्या मैं इतना नीच हूँ कि आज के उन्नत युग में भोग की परिसाधना में अनेक स्त्रियों को अपनी बना लूँ। यह बर्बरता है, और स्नेह जैसा कुछ राधा ने दिया वह तुम्हारे कर्त्तव्य से पृथक् है, वह सब कुछ समर्पण है, स्वीकार करने के लिये कुछ भी नहीं, शरीर के लिये इस लोक की कोई कामना नहीं। तब राधा क्या चाहती है? वह अपने प्रेम को किसी पर प्रकट भी न करे, स्वयं घुल-घुल कर समाप्त हो जाये। वह बहुत खुश है।

और इससे कुछ अधिक राधा से करने को कहा जायगा ! वह पता नहीं जीवित भी रहेगी या नहीं। कैसी विचित्र नारी है। जो मृत्यु शय्या पर लेट कर कह सकती है--

'आप आ गये, अच्छा हुआ--पर देखो मेरे लिये दुःखी न होना। मैं कभी दूर नहीं रहती और कभी पास भी नहीं आ सकती।'

राधा बचा ली गई है, शायद वह स्वयं जीना तो नहीं चाहती। इस हत्या का अपराध मुझ पर है, इसी की पीड़ा तो बरबस फूट निकलती है।

और भी राधा से कोई लौकिक संबंध बनाने से उसकी वह दिव्य अनुभूति सदा के लिये मर जायेगी। तुम कभी इसे गलत न समझना रानी ! राधा मेरे लिये किसी से ज्यादा भी पूज्य है, पर शायद कोई भी नहीं है।

पर मैं रानी को कुछ न लिखूँगा।

इन बातों को लिखने से क्या लाभ ?

तभी रिक्शा रुक गया। मुगल बादशाहों के शाही किले के द्वार पर।

जय को जैसे किसी ने फिर हिला दिया हो--सुधा शायद इतनी देर से उसके मुँह की ओर बड़े गौर से देख रही थी ! उसने पूछा--

'ऐसे क्या खो गये, प्रो० साहब ?'

'कुछ नहीं, सुधा देवी !'--जय ने स्वस्थ होते हुए कहा। 'मुझे महा कवि प्रसाद की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही थीं। कितना सुन्दर लिखा है प्रसाद ने, प्राणों को विभोर कर देती हैं।'

'मैं भी सुनूँ !'

'सुनिये, आपने पढ़ी होंगी--

धरती दुख माँग रही थी
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
हूँ देख रहा उस मुख को।

'बहुत सुन्दर लिखा है'—सुधा ने कहा—'आँसू का एक-एक पद अपने-आप में किसी लौकिक अनुभूति की छाया में अलौकिक-सा जान पड़ता है। आपको यह तो याद होगा ही—

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला हो
जैसे इस नील निलय में

'बहुत सुन्दर! आपकी साहित्य में बहुत रुचि है, सुधा देवी! मैं समझता था आप केवल शुद्ध विचारक ही हैं, पर कुछ और भी हैं, शायद कवि भी।'

'नहीं प्रो० साहब कविता नहीं करती। हाँ पढ़ने का बहुत शौक है, याद भी बहुत है, आप भी अपनी चीजें देते जाइये।'

'हाँ, हाँ!'—जय ने जैसे मजबूरी बतलाते हुए कहा।

तभी शैलेन्द्र प्रवेश पाने के टिकट खरीद कर ले आया था।

●

छः . . .

कभी ऐसा भी होता है कि कुछ स्थल मनुष्य की भावुकता को विशेष बढ़ा देते हैं। तब जैसे उसकी वह अनुभूति दैनिक जीवन की अनुभूति से कितनी पृथक् हो जाती है। फिर इतिहास को किसी विशेष दृष्टि से पढ़ने-लिखनेवाले व्यक्तियों के लिये राजा-महाराजाओं का पैदा होना और मर जाना कोई बहुत महत्त्व नहीं रखता अपितु व्यवस्था के मानदंड, सांस्कृतिक जीवन के प्रति रुझान आदि बातें ऐसी हैं, जिनको पत्थर पर खुदी कारीगरी, उनके नाम और उनसे जुड़ी हुई उन कहानियों, जिन्होंने लोक-जीवन को आतंकित कर रखा है, का बहुत महत्त्व है। जय ने शैलेन्द्र को ऐसा ही बतलाया था, क्योंकि इतिहासकार राजाओं, महाराजाओं के जीवन

वृत्त को ढूँढ़ने में ही लगे रहते हैं किन्तु क्या उससे भीतर और उसकी नींव के रूप में वे इतिहास के बाहर शायद पा नहीं पाते। दिल्ली में आने के साथ कितने हजार वर्षों का इतिहास उसके सामने आ गया था। यह किला कोई बहुत पुराना है यह नहीं कहा जा सकता, उसके पहिले की दिल्ली में कितनी इमारतें आज भी टूटी-फूटी अवस्था में शेष हैं। पर इससे क्या ?

सुधा ने कहा—'आप भी प्रोफेसर साहब, इन पुरानी चीजों में क्या नयापन खोजना चाहते हैं, समझ में नहीं आता। जो है वह तो है ही। और जो कुछ इन बादशाहों ने किया है, उसकी याद भर करने से रोंगटे खड़े हो जाते !'

शैलेन्द्र ने बीच में ही कहा—'तुम नहीं जानती, सुधा ! कुछ लोग जो हैं उसमें विश्वास ही नहीं करते, जो हो चुका है उसे ही सत्य मानते हैं। समझ में आई बात। जब घटना हो जाती है तब उस पर बैठ कर सोचते हैं लेकिन उस समय शायद नहीं जब...!'

यह बात जय को लक्ष्य कर कही गई थी, यह बात तो जय भी जानता था पर वह बोला कुछ नहीं जैसे कुछ सोच रहा हो, हाँ बात सोचने की थी। अभी कुछ देर पहिले रिक्शा से उतरने पर सुधा ने 'प्रसाद' की पंक्तियों को दुहराया था। क्यों दुहराया था ? और फिर 'बस गई एक बस्ती है' तो क्या सुधा का कुछ और भी अर्थ इसके साथ था ? पर शायद नहीं।

'अरे भाई, यहाँ भी कुछ सोच रहे हो ?'—शैलेन्द्र ने रोका—'देखो यह दरवाजा है। इसके आसपास किले संबंधी सामग्री मिलती है। कुछ खरीदना है ?'

'हाँ, एक एलबम खरीद दो। चित्रों का संग्रह ही।'—जय ने धीरे से कहा—'सुधा देवी आप जरा खरीद दीजिये। मैं तो लेन-देन नहीं कर पाता हूँ। पर यह जानता हूँ कि दूकानदार ठगने पर तुले हुए हैं, शैलेन्द्र आपकी सहायता कर सकते हैं।'

और जय कुछ दूर पर ही खड़ा रहा। किले के द्वार से लेकर दूसरे दरवाजे तक एक लम्बा सा सुरंगनुमा रास्ता है। फिर उसे जैसे याद हो आया

—शैलेन्द्र और सुधा का व्यंग्य। लोगों की प्राचीन से घृणा है, वे उसे हेय समझते हैं, पर शायद उन्हें नहीं मालूम जो कुछ नवीन है वह उसी प्राचीन का रूपान्तर तो है। और फिर सुधा मुझे बार-बार प्रो० साहब क्यों कहती है, यहां तो कोई कालेज नहीं है—यह बात भी उसे याद हो आई। फिर आयु में भी कोई खास अन्तर न होगा।

खरीददारी करने के बाद वे फिर आगे बढ़े। मुगल बादशाहों के दरवाजों के नमूने बहुत कुछ एक-से ही मिलते हैं, जय जैसे सोचता रहा। इतने बड़े-बड़े किले बनाने में लोगों को कितना खर्च करना पड़ता था या यह कहीं बेगार की अमानुषिक प्रथा के कारण फतहपुर सीकरी के समान बुलन्द दरवाजा बेमोल बनवाया जा सकता है, वह भी एक व्यक्ति के नाम अथवा कुछ [illegible]-आराम के लिये। फिर शायद जंगल का नियम अभी भी संसार से मिटा नहीं है, मिट पायगा इसमें सन्देह है।

शैलेन्द्र ने पथ-प्रदर्शक का काम किया। वह जगह उसकी देखी हुई थी—सुधा जैसे वहाँ आ कर कुछ सोच ही न पा रही थी कि कैसे अपना उत्साह प्रगट करे और तभी जय की भावुकता ने उसे विमुग्ध कर दिया था। फिर अब जय और सुधा में कोई दूरी नहीं थी। दरबारे-आम में फव्वारों के बीच अब कितनी ही कारीगरी नहीं मिलती है—बढ़िया-बढ़िया बारीक काम, और सब स्थान जहाँ हीरे जवाहरात और सोने का पानी चढ़ा हुआ था, सभी जगहें—रिक्तता में शून्य और सौन्दर्य में कोढ़ के दाग-सी दिखाई पड़ रही थीं।

शैलेन्द्र ने कहा—'समय बदलता है तो ऐसे, कुछ सौ साल पहिले हमारे समान अदना आदमी इस तरह शान के साथ इस शाही किले में घूम सकता था? शायद उसके शरीर का पता भी न चलता। पर आज देखो, और जय तुम तो आज ऐसे मालूम पड़ रहे हो जैसे किसी कल्पना-लोक में विहार करनेवाले सम्राट् हो!'

जय शैलेन्द्र की आदत जानता था, उसे कुछ न कुछ कहते रहना था, बस इसीलिये बात मतलब की हो या बेमतलब—कह दिया करता था; पर सुधा ने इसको यहीं समाप्त न होने दिया। उसने कहा—

वृत्त को ढूँढ़ने में ही लगे रहते हैं किन्तु क्या उससे भीतर और उसकी नींव के रूप में वे इतिहास के बाहर शायद पा नहीं पाते। दिल्ली में आने के साथ कितने हजार वर्षों का इतिहास उसके सामने आ गया था। यह किला कोई बहुत पुराना है यह नहीं कहा जा सकता, उसके पहिले की दिल्ली में कितनी इमारतें आज भी टूटी-फूटी अवस्था में शेष हैं। पर इससे क्या ?

सुधा ने कहा—'आप भी प्रोफेसर साहब, इन पुरानी चीजों में क्या नयापन खोजना चाहते हैं, समझ में नहीं आता। जो है वह तो है ही। और जो कुछ इन बादशाहों ने किया है, उसकी याद भर करने से रोंगटे खड़े हो जाते !'

शैलेन्द्र ने बीच में ही कहा—'तुम नहीं जानती, सुधा ! कुछ लोग जो हैं उसमें विश्वास ही नहीं करते, जो हो चुका है उसे ही सत्य मानते हैं। समझ में आई बात। जब घटना हो जाती है तब उस पर बैठ कर सोचते हैं लेकिन उस समय शायद नहीं जब...!'

यह बात जय को लक्ष्य कर कही गई थी, यह बात तो जय भी जानता था पर वह बोला कुछ नहीं जैसे कुछ सोच रहा हो, हाँ बात सोचने की थी। अभी कुछ देर पहिले रिक्शा से उतरने पर सुधा ने 'प्रसाद' की पंक्तियों को दुहराया था। क्यों दुहराया था ? और फिर 'बस गई एक बस्ती है' तो क्या सुधा का कुछ और भी अर्थ इसके साथ था ? पर शायद नहीं।

'अरे भाई, यहाँ भी कुछ सोच रहे हो ?'—शैलेन्द्र ने रोका—'देखो यह दरवाजा है। इसके आसपास किले संबंधी सामग्री मिलती है। कुछ खरीदना है ?'

'हाँ, एक एलबम खरीद दो। चित्रों का संग्रह ही।'—जय ने धीरे से कहा—'सुधा देवी आप जरा खरीद दीजिये। मैं तो लेन-देन नहीं कर पाता हूँ। पर यह जानता हूँ कि दूकानदार ठगने पर तुले हुए हैं, शैलेन्द्र आपकी सहायता कर सकते हैं।'

और जय कुछ दूर पर ही खड़ा रहा। किले के द्वार से लेकर दूसरे दरवाजे तक एक लम्बा सा सुरंगनुमा रास्ता है। फिर उसे जैसे याद हो आया

—शैलेन्द्र और सुधा का व्यंग्य। लोगों की प्राचीन से घृणा है, वे उसे हेय समझते हैं, पर शायद उन्हें नहीं मालूम जो कुछ नवीन है वह उसी प्राचीन का रूपान्तर तो है। और फिर सुधा मुझे बार-बार प्रो० साहब क्यों कहती है, यहां तो कोई कालेज नहीं है—यह बात भी उसे याद हो आई। फिर आयु में भी कोई खास अन्तर न होगा।

खरीददारी करने के बाद वे फिर आगे बढ़े। मुगल बादशाहों के दरवाजों के नमूने बहुत कुछ एक-से ही मिलते हैं, जय जैसे सोचता रहा। इतने बड़े-बड़े किले बनाने में लोगों को कितना खर्च करना पड़ता था या यह कहीं बेगार की अमानुषिक प्रथा के कारण फतहपुर सीकरी के समान बुलन्द दरवाजा बेमोल बनवाया जा सकता है, वह भी एक व्यक्ति के नाम अथवा कुछ व्यक्तियों के ऐशो-आराम के लिये। फिर शायद जंगल का नियम अभी भी संसार से मिटा नहीं है, मिट पायगा इसमें सन्देह है।

शैलेन्द्र ने पथ-प्रदर्शक का काम किया। वह जगह उसकी देखी हुई थी—सुधा जैसे वहाँ आ कर कुछ सोच ही न पा रही थी कि कैसे अपना उत्साह प्रगट करे और तभी जय की भावुकता ने उसे विमुग्ध कर दिया था। फिर अब जय और सुधा में कोई दूरी नहीं थी। दरबारे-आम में फव्वारों के बीच अब कितनी ही कारीगरी नहीं मिलती है—बढ़िया-बढ़िया बारीक काम, और सब स्थान जहाँ हीरे जवाहरात और सोने का पानी चढ़ा हुआ था, सभी जगहें—रिक्तता में शून्य और सौन्दर्य में कोढ़ के दाग-सी दिखाई पड़ रही थीं।

शैलेन्द्र ने कहा—'समय बदलता है तो ऐसे, कुछ सौ साल पहिले हमारे समान अदना आदमी इस तरह शान के साथ इस शाही किले में घूम सकता था? शायद उसके शरीर का पता भी न चलता। पर आज देखो, और जय तुम तो आज ऐसे मालूम पड़ रहे हो जैसे किसी कल्पना-लोक में विहार करनेवाले सम्राट् हो!'

जय शैलेन्द्र की आदत जानता था, उसे कुछ न कुछ कहते रहना था, बस इसीलिये बात मतलब की हो या बेमतलब—कह दिया करता था; पर सुधा ने इसको यहीं समाप्त न होने दिया। उसने कहा—

'वास्तव में बात सोचने की है, शैलेन्द्र दा! और फिर प्रो० साहब अतीत से वर्तमान को जुड़ा हुआ न माने यह नहीं हो सकता।'

'सुधा देवी, आप मुझसे प्रोफेसर साहब क्यों कहती हैं? यहाँ न तो मैं प्रोफेसर हूँ और न कभी आपका गुरु ही रहा हूँ, फिर आप भी तो वही काम करती हैं।'

'तो और क्या कहूँ?'

शैलेन्द्र ने सुझाव देते हुए कहा—'सिर्फ जय या बहुत से बहुत मि० जय।'

सुधा को ऐसा लगा जैसे शैलेन्द्र व्यंग्यपूर्ण ढंग से प्रो० साहब का अपमान कर रहा हो; पर शायद वह गलत ही सोच रही हो! इतने अंतरंग मित्रों का एक-दूसरे को नाम-उपनाम देना अपमान कैसा?

'भाई, कुछ भी कहो, लेकिन ऐसा नहीं कि जिसमें पृथकत्व की भावना हो, आनवश्यक शिष्टाचार हो।'

सुधा ने अनुभव किया—यह हृदय निकटता के लिये कितना प्रयत्नशील है जब कि कुछ लोगों को निकटता देने पर उनमें लेशमात्र भी इसका भाव नहीं होता या यह कहो वे कुछ इतने आत्मकेन्द्रित और संकुचित होते हैं जो अपने काम तक निकट रह कर दूर चले जाते हैं।

'जैसी आपकी इच्छा। पर यह तो बताइये क्या आपके समान व्यक्ति मुझ जैसे निरर्थक प्राणी को अपनी मैत्री का लाभ दे सकता है?'

शैलेन्द्र समझता था जय सीधा-सादा आदमी—निस्पृह मन क्या किसी की मित्रतम का पात्र हो सकता है और उसका, जिसके विषय में उसकी धारणा भिन्न थी। गत दो वर्षों से उसका सुधा का परिचय हुआ था तब शायद इसीलिये कि जो कुछ उसने सुन रखा है वह भी उसका लाभ उठा ले तो क्या बड़ी बात है। पर जैसे सुधा अपने को बनाये रही, इस बोल लेने के बाद भी नारी की उदासीनता ने अपना अस्तित्व बनाये रहने दिया। शैलेन्द्र के सब प्रभाव निरर्थक गये यद्यपि सुधा ने उसे ऐसे नहीं समझा जैसा वह अन्तर में था, और था क्या, सत्य के लिये तथ्य बन कर

वह उस बात की पुष्टि चाहता था कि सुधा के विषय में लोगों की जो मान्यतायें हैं, वे सही हैं ?

आखिर वह ऐसा क्यों सोच रहा था—उसकी पत्नी से जब उसका सबसे पहिला परिचय हुआ तब से सुधा विश्वस्त थी, दा को क्या चाहिये, नारी ? नहीं। वह नारीत्व के लिये उसके पास नहीं आते। आकारहीन कुछ और, शायद दूर के रहनेवाले हैं, परदेशी हैं, तभी एक (सोसायटी) समाज खोज रखना चाहते हैं, भैया के निकट मात्र हैं। और मेरे लिये कभी-कभी जो अपरिमित स्नेह उड़ेल देते हैं, यह भी मनुष्य का मन ही तो है। उसमें से किसी बुरी बात की सृष्टि कर लेना कितनी गलत बात है।

यह उदासीनता नारी को आकर्षित करती है, अपने प्रति निस्पृह होने की, शैलेन्द्र को सुधा का जय की ओर खिंचना ऐसा ही लगा और जय भी कितना खोया-खोया है। क्या सुधा नहीं समझती, जय की उदासीनता का भी एक कारण है किन्तु शायद हृदय कारणों की खोजबीन उतनी नहीं करता जितना मस्तिष्क। वहाँ प्रत्येक स्थिति में अपना दैन्य ही फूट पड़ना चाहता है। उसने सोचा क्यों न वह अभी से आगाह कर दे, 'जय विवाहित है सुधा ! उसके बच्चे हैं, बड़ा स्वस्थ परिवार है। शायद उसका जय के जीवन में प्रवेश पाना किसी भयंकर विस्फोट की पूर्व सूचना है, पर नहीं, मुझे क्या ?'

और अभी कोई ऐसी बात भी तो नहीं थी। यह तो घन्टे दो घन्टे की बात है। जय शायद नहीं जानता सुधा क्या है ?

सुधा के उत्तर में जय ने आश्चर्य का अनुभव किया। क्या सुधा अपने आपको इतना हीन समझती है कि उसे डर है कि मैं उसे मित्र भी न बना सकूँगा। क्या मित्र का कोई और भी अर्थ है ? तो क्या वह बतला दे, सुधा देवी, मैं मित्र बनाने में कोई बुराई अनुभव नहीं करता, पर यह बता देना चाहता हूँ इससे अधिक कुछ नहीं बना सकता शायद इसीलिये कि तुम्हारे ही समान हृदयवाली नारी मेरी भी है, उसके हृदय की मान्यता भी है, मैं तुमसे पूर्व उसे स्वीकृति दे चुका हूँ ?

उसने यह सब कुछ सुधा से नहीं कहा, और फिर उसे ऐसा लगा जैसे राधा की अशरीरी छाया-छवि उससे कह रही हो, 'इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, तुम दीपक जो हो, इतने प्रखर, इतना स्नेह उड़ेलनेवाले और स्वयं जलकर संसार को प्रकाश देनेवाले कि तुम्हारे ऊपर पतंगों का समूह उमड़ पड़े तो इसमें तुम्हारा क्या दोष ? तुम दृढ़ बने रहो, अपने रास्ते से विचलित न होना, तुम्हें किसी उत्सर्ग से क्या ?

पर यह रूमानी बात उसे अच्छी न लगी।

उसने कहा—'सुधा देवी, मैं आपको पूर्व से ही अपना मित्र मानता हूँ और जीवन के इस मरुस्थल में मित्र ही तो ऐसे हरे-भरे प्रदेश हैं—जहाँ दो क्षण शान्ति की साँस ली जा सकती है। पर यह सब शैलेन्द्र की ही कृपा है, आप जैसे व्यक्ति से परिचय हुआ और वह भी इतना निकट।'

सुधा ने संतोष की साँस ली।

दरबारे-आम से निकल कर ये लोग दरबारे-खास में पहुँचे। शैलेन्द्र कह रहा था—'जानते हो जय, सुधा बहुत अच्छा गाती है, और गाती क्या है कोई पक्के ताल पर मुँह फाड़-फाड़ कर नहीं किन्तु हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी की कवितायें ऐसे सुनाती है जैसे इनकी स्वयं की हों। गायक भले ही अपनी कला से विमुग्ध कर सकता है किन्तु कविताओं की अनुभूति के लिये तो जैसे ऐसे ही कलाकार की आवश्यकता है—'

पर उसने प्रस्ताव नहीं किया। वह जानता था, सुधा उसके प्रस्ताव को कुछ न कुछ कह कर टाल जाती है, कभी बहुत कठिनाई से मजबूरन गा दिया तो गा दिया। वह भी शायद आग्रह नहीं करता। पर करना चाहता है सुधा से मिलकर। उसे ऐसा लगता है जैसे जीवन खाने-पीने और मौज उड़ाने के लिये हो—इसके अतिरिक्त शायद कुछ नहीं। मनुष्य का यह स्वभाव कितना विचित्र है, अपनी सीमा तक वह लीक पर चलता है, फिर सीमा से बाहर जैसे दूसरे की परिस्थिति को नहीं देख पाता—वहाँ पर चाहता है सब निर्द्वन्द्व हो, मुक्त हो। शायद उसे उसमें बुराई ही नहीं दिखाई पड़ती हो।

पर ऐसे लोग ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में अवश्य रहते हैं, विज्ञप्त होना उन्हें अच्छा नहीं लगता। और वही बात यदि उनके प्रिय या निकट के साथ घट जाय तब उनकी संपूर्ण नैतिकता संकलित होकर जेहाद बोल देती है। यह बात कितनी गलत है। और नैतिकता के नाम पर मनुष्य की निर्बलता का निर्जीव आवरण।

जय ने कहा—'तो तुम्हारा मतलब है यदि सुधा देवी से प्रार्थना की जाये तो...'

'तो, क्या आपको प्रार्थना करने की आवश्यकता नही है प्रो० साहब, मै स्वयं ही गा देती हूँ पर ऐसे नहीं, खड़े-खड़े भीड़-भाड़ एकत्रित कर लेने में अच्छा नही लगता, कही बैठ कर।'

फिर जय ने उसे बड़े गौर से देखा तो उसे ऐसा अनुभव हुआ—शायद वह कुछ ऐसा कह गई जो उसे न कहना चाहिये था, पर उसे कुछ स्मरण नहीं आ रहा था।

'अभी तुम्हारी आदत इतनी जल्दी बदल भी नहीं सकती सुधा'—शैलेन्द्र ने कहा—'आखिर भाई! तुम प्रोफसर हो। प्रोफेसर कहलाने से चिढ़ते क्यों हो?'

तब सुधा को अपनी भूल मालूम हुई। पर वह जय को क्या संबोधन करे। अंग्रेजी शिष्टाचार में मि० जय कहना उसे पता नही क्यों अच्छा नहीं लगा। और केवल जय कह कर पुकारने में ऐसा अनुभव हुआ जैसे इस व्यक्ति के साथ वह न्याय नहीं कर रही है। पर सुधा सोच रही थी प्रो० साहब से मेरा क्या संबंध? एक मित्र का ही तो है पर नहीं। यह संबंध केवल मित्र का ही होता है तो...कुछ विशेष जो है, सब में नहीं होता। तभी तो जैसे ऐसे व्यक्ति लाखों में अलग मालूम पड़ जाते हैं।

कोई बात नहीं सुधा देवी, जो आपको रुचे।'—उसने कहा।

फिर थोड़ी देर में उन्हें बैठने के लिये एक स्थान मिल गया था।

ऊपर से दिखाई पड़नेवाले एक परिवार के उस समरूप में कितना अंतराल था, प्रत्येक अपनी गुत्थी को सुलझा रहा था और जैसे सीमित होकर शायद इसीलिये कि कोई भी किसी का अहित नहीं चाहता था। पर बहुधा

यही बात सभी लोगों में नहीं होती। और कितना ही प्रगतिशील समाज क्यों न हो इस देश की सामाजिक व्यवस्था ने कुछ अनावश्यक उलझनें उत्पन्न कर दी हैं जिनकी गहराई में कुछ नहीं है। जैसे लहरों के नीचे एक सम-चेतन चल प्रवाह हो। ऊपर की लहरों को देख कर कितना क्या नहीं सोचा जा सकता है, फिर उस पर कितना विवाद, कितना संघर्ष नहीं होता? पर व्यर्थ है--थोड़ी गहराई में शान्ति के साथ डूब कर खोजनेवाले व्यक्ति सब कुछ खोज सकते हैं--तब स्वार्थ, भोग और व्यर्थ के यश की लालसा, स्नेह, त्याग और सेवा में बदल जाती है। यह बात पृथक है कोई व्यक्ति अपना उद्देश्य लहरों से खेलना भर मान सकता है। तब शायद जय सोच रहा था—शैलेन्द्र वैसे कितना अच्छा, कितना उत्साही है पर लहरों से खेलने में उसे आनन्द आता है। शायद उसके भीतर वह नहीं जाना चाहता, जाने के बाद लहरों के प्रति एक निस्पृह संयोग बना रह सकता है, और सुधा जैसे लहरों को छू कर देखना चाहती है पर शंकित मन से लहरों की हिलोरों में उसे आनन्द मिल जायगा कहा नही जा सकता। उसकी जिज्ञासा इससे पृथक् है पर माया की भाँति मोहक ऐन्द्रजालिक कल्पना में उसकी आत्मा रमती तो अवश्य है तब क्या वह इसीलिये व्यवहार-कुशल है, तभी वह उसके निकट आना चाहती है, चाहती क्या, शायद आई भी है बिना यह जाने हुए कि मैं क्या हूँ?

अभी तक जय का विश्वास था मनुष्य पहिले एक-दूसरे को भली प्रकार जान-पहिचान लेते हैं, तभी तो एक-दुसरे की ओर खिचते हैं। और शायद उसके पश्चात् का वह आकर्षण ही यथार्थ रूप में हृदय की पीड़ा है, मन की संवेदना और तन का रूझान, पर बिना जाने-पहिचाने भी कुछ लोग किसी की ओर आकर्षित हो जाते हैं—भले ही यह आकर्षण एकांगी हो। जय चाहता था वह सुधा को जान ले और सुधा उसकी परिस्थितियों को; और उसके पश्चात् वह उसके निकट एक प्रशंसक, एक मित्र, एक साधक के रूप में बनी रह सकती है। पर यदि वह बिना जाने-पहिचाने उसे कुछ गलत समझ जाये तब ज्ञात होने पर उसे कितनी पीड़ा होगी और क्या इसके लिये भी जय उत्तरदायी नहीं होगा? क्या सुधा वैसी ही है जैसी

शैलेन्द्र ने बतलाई है, स्वयं कुछ नहीं, लहरों के साथ लहर बन कर खो सकती है, कोई गन्तव्य नहीं पर ऐसा नहीं हो सकता।

जय चाहता था, वह उसके साथ बैठ कर सब बातें कर डाले। पर क्या शैलेन्द्र के सामने सुधा सब बातें आसानी से कह सकती है? यह दुराव जब दो में भी रहता है तो दो से अधिक व्यक्तियों के एकत्रित रहने पर तो दुराव अधिक ही बना रहता है।

और शैलेन्द्र की प्रफुल्लता कुछ कम-सी हो रही थी वैसे तो नहीं कह सकते कि दोनों की इतनी स्वच्छन्द मैत्री में कोई व्यवधान उपस्थित हुआ हो, पर वह जैसे आत्म केन्द्रित हो कर सोच रहा था। उसका विचार सुधा के विषय में सही नहीं है, मैंने जय को जो कुछ बतलाया वह तो सब सुना हुआ था कभी प्रसंग-वश ऐसा हुआ भी नहीं और यदि हो जाता तब? शायद मेरी क्या से क्या स्थिति न हो जाती! तो यह सब गलत है? यह मैत्री, यह निकटता, जो बौद्धिक अधिक है। और बुद्धि के सम-तौल पर ही तो कोई किसी को मानता है, फिर और कुछ सोच लेना गलत है। वह जय और सुधा के विषय में कुछ नहीं सोचेगा, कुछ है भी नहीं। पर पता नही उसे वह एक दम बहुत अच्छा क्यों नहीं लगा।

सुधा जैसे कुछ सोचना ही न चाहती हो। शायद बहुत सोचते-सोचते इस निष्कर्ष पर पहुँच रही थी—'सोचने से क्या लाभ और शायद जीवन में एक बार धोखा खा कर वह अब विश्वस्त थी। उसे कोई क्या धोखा दे सकता है, या यह सब कुछ नहीं है।' लीक पीटने की आदत या तो ऐसे व्यक्तियों में अधिक होती है जो दूसरों की तुलना में अपनी स्थिति बनाये रखना चाहते हैं या फिर उन लोगों में जो स्वयं कुछ कम होते हैं और अपनी सत्ता को दूसरों मे प्रभावित स्वीकार कर लेते हैं; पर सुधा ऐसी नहीं है, वह लीक तोड़ कर चलना चाहती है, शायद इसीलिये कि जय तक वह अकेली थी। तब तक लीक पर चलने में दृढ़-प्रतिज्ञ थी, पर बाद में किसी से मिलकर उसका दृढ़ विश्वास हिल गया था और क्या नारी और पुरुष की बात-चीत, हँसी-खुशी एक ही सेक्स के सीमित घेरे में घिरे हुए यंत्रवत् व्यवहार हैं? या इसी भय से संकुल नैतिक आवरणों की धूप-छाँह हैं।

पर यह गलत है। एक क्षण जो लौट कर नही आया, किसी दूसरे क्षण से मिल कर रस-विभोर हो जाये, क्या बुराई है क्या आपत्ति है ?

कुछ क्षण कोई कुछ नहीं बोला, तब जैसे ऐसा मालूम हुआ, प्रत्येक अपनी थकान उतार रहा हो।

जय ने कहा—'तो सुनाइये 'प्रसाद' जी का ही कोई गीत !'

'आप जो कहें, 'बीती विभावरी' वाला सुनियेगा ?'—एक अलस चितवन से देखते हुए सुधा ने कहा, तब जय कुछ सोच नही पा रहा था।

उसने स्वीकृति दे दी।

और पल भर में स्वर-लहरी वायु मंडल में गूँज उठी—

बीती विभावरी जाग री !
अंबर पनघट पर डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी
खग कुल कुल-कुल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
नवल मुकुल रस गागरी !
अधरों में राग अमंद पिये
अलकों में मलयज बन्द किये
तू अब तक सोई है आली
आँखों में भरे विहाग री !
बीती विभावरी जाग री !!

'सच ही आप बहुत सुन्दर गाती हैं !—जय ने कहा—'यह प्रशंसा न समझियेगा। गीत में हृदय की वह तीव्र अनुभूति शब्दों की सरस कोमलता के साथ ऐसी प्रतीत होती है, मानों यह वाणी प्रसाद की नहीं आपकी अपनी हो। कितनी तन्मयता है !'

जय कुछ ऐसे बोले जा रहा था, जैसे प्रसाद के काव्य पर और उसकी अभिव्यक्ति पर भाषण दे रहा हो।

शैलेन्द्र की प्रसन्नता भी छिप न रही थी, उसने कहा—'मैं कहा था न...'

और सुधा तब जैसे वहाँ नहीं थी, अपने आप में खो कर गीत के ओर-छोर से अपना संबंध जोड़ रही थी। वह गाने के पश्चात् पता नहीं कितने क्षण यों ही आत्मविभोर बैठी रही, फिर उठ खड़ी हुई।

तब शैलेन्द्र कह रहा था—'साहित्य से आपका ऐसा निकट संबंध मुझे तो आज ही मालूम हुआ! हम तो भाई साहित्य और कला के बारे में सचमुच...।'

शैलेन्द्र यह कुछ ऐसे प्रकट कर रहा था जिसने सुधा की ध्यान-मुद्रा भंग कर दी और तब सुधा ने अजान नेत्रों से जय की ओर देखा, जैसे कहना चाहती हो—'मैं भी कैसी हूँ, कैसी हो गई पर अब ठीक हो गई हूँ, तुम क्षमा कर दोगे न?'

तब वह कुछ मिनटों की गोष्ठी समाप्त हो गई। फिर वे लोग आगे बढ़ गये, कितनी ही छोटी-मोटी इमारतों को देखते हुए।

जैसे यह जीवन एक प्रवाह हो, कितना आनन्ददायी! कोई ओर-छोर का पता ही नही, फिर उर्मियों की सतह पर कितनी लहरों का मिलन नहीं होता? शायद तथ्य यह है बिना स्पर्श ये लहरें जड़वत् प्रतीत होने लगती हैं और इस अथाह उर्मि समुदाय के अंतर में क्या है जो सबको बाँधे हुए है?

पर बात यहीं समाप्त नही होती। इस सतह के नीचे कुछ बड़े विशाल-काय और सबल भूमि-खंड हैं जो इन लहरों की गति-विधियों में सहायक नहीं—बाधक हैं, किन्तु वे भी हैं, उनके अस्तित्व से कोई अपने को मुक्त नहीं कर सकता। तभी तो वात्याचक्र उठते हैं और इतने भयंकर कि लहरों के शाश्वत प्रवाह से अविश्वास ही। उत्पन्न कर देते हैं। पर क्या इससे लहरों की आत्मचेता गति में अविश्वास करना उचित है?

लहरों की गति उससे अभिभूत है। प्रगति और पतन, उसके स्रोत को परिचालित करने की विविध व्यवस्था, ये सब जैसे बदल जाते हैं। और यह व्यवस्था क्रम, नियम, नैतिक-अनैतिक धारणाएँ-लहरों के नीचे क्या

हैं ?—कुछ नहीं और तब जैसे उन लहरों पर ऊपर ही तक उनका अधिकार है। वह भी परिवर्तनशील है। और फिर जैसे छोटी-छोटी बातों रूपी—प्रवाह की अगम गहराई से निकाले हुए—घोंघे और शंखों को पाकर सम्पूर्ण प्रवाह शान्त है। उस पर तैरनेवाली असंख्य लहरें, अशान्ति पर मुक्ति की घोषणा कर दें तो ?

पर व्यर्थ परिणाम जहाँ निश्चित हो—वहाँ कुछ करने न करने से क्या होता है। सृजन-विनाश और विनाश-सृजन के परिणामों से अभी तक संसार मुक्त नहीं हुआ है।

सुधा कुछ देर लहरों के अंतराल में खो कर लौट आई थी, जैसे भाव-विभोर होने के साथ ही किसी पीड़ा से त्रस्त हो। तब चलते-चलते उसे ऐसा मालूम हुआ वह गिर पड़ेगी। जय के साथ चलते हुए उसे ऐसा लगा, जैसे वह निस्बल वल्लरी की भाँति सम्बल की अपेक्षित स्थिति में गिरी जा रही हो; पर फिर भी यहाँ एकान्त नहीं था। दर्शकों की संख्या बढ़ रही थी और फिर शैलेन्द्र भी तो—वह जो कभी आगे और कभी पीछे चल रहा था—जैसे अपनी स्थिति का अनुमान लगा रहा हो।

गीत गाने के साथ ही साथ उसे कुछ याद हो आया था। शायद उसने जय से पूछने से पहिले यह सोच ही न पाया था इस गीत का उसकी घटनाओं से कितना साम्य है और उसने कितनी बार यह गीत नहीं गाया था नितीन के साथ ! विभावरी के काल्पनिक नाटकीय घटना-चक्रों में उसका यौवन कितना भूला-भूला नहीं रहता था तब उसने कभी सोचा भी नहीं था। नितीन ऐसा निकलेगा। ऐसा जो बिल्कुल भौतिक उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार अपने आपको चलाये जायेगा। वहाँ उसको ये सब बातें केवल भुलावा थीं, उसे सुधा चाहिये थी। गुलाब-सी देह, अँधियारी रातों-सी घनी केश राशि, सरोज-से नयन, भृंग-सी झुकी भृकुटी, पंखुड़ी-से अधर !

उसे शायद हृदय नहीं चाहिये था तभी तो वहाँ हृदय के तौलने के लिये, विकास और उन्नति के लिये वह उसी स्थिति में रुकने को तैयार नहीं था। तब शायद वह शारीरिक भूख उसकी ही थी, जिसका अनुभव उसके द्वारा मुझे हुआ तब बिना कुछ सोचे-समझे हम एक हो गये।

वह मुझे उन क्षणों कितना अभूतपूर्व मालूम हुआ और मैंने उन क्षणों को अपने जीवन की सम्पूर्ण पवित्रता से बाँध रखना चाहा; पर शायद जो हुआ वह अच्छा नहीं था।

उसका सिर चकरा उठा, वह जैसे गिरते-गिरते बची, उसने नितीन का वरण कर लिया था और तब शायद नितीन ने भी उसे अपनी जीवन-संगिनी बनाने का वचन दे दिया था—किन्तु उसके पूर्व जो हुआ, उसके लिये वह तैयार न था। विवाह के पूर्व ही वह अपने बालक का पिता नहीं बनना चाहता था और फिर न विवाह के विषय में ही निश्चिन्त था, तब ओह... तब उस विभावरी में गाया गया वह गीत, और शायद इतना प्रखर कि उसकी पुनरावृत्ति घटना बन कर रह गई तो?

'कहीं थोड़ी देर बैठियेगा... सुधा देवी!'—जय ने कहा—'ऐसा मालूम पड़ता है कि आप थक गई हैं।'

पर वह कुछ बोली नहीं। जैसे किसी से बोलना ही न चाहती हो। जैसे इसी प्रकार तो मैत्री प्रारंभ होती है और फिर उसका निष्कर्ष अंततोगत्वा शरीर की निकटता में बदल कर रह जाता हो—यही तो एक सत्य था जिसे उसने अनुभव किया था।

फिर उसे ध्यान आया हो। उसे क्या हो गया है और प्रो० साहब मेरे विषय में क्या सोचेंगे? क्या उन्हें मालूम है मैं परित्यक्ता हूँ। मेरे साथ किसी का सम्पर्क उसे भी परित्यक्त बनाये बिना न रहेगा। फिर कौन परित्यक्त नहीं है, तभी तो एक से अनेक की पूर्ति मानव मन की अपनी है, वह नवीन चाहता है और प्रत्येक नवीन अंत में प्राचीन हो कर छूट जाता है। जो लोग लीक पर चल कर उसका निर्वाह कर लेते हैं, वे ही तो वास्तव में व्यवस्थापक हैं, पर शायद लोग यही नहीं बनना चाहते।

'जी, वहाँ बैठेंगे'—संकेत करते हुए सुधा ने कहा। और शैलेन्द्र के लिये यह एक आश्चर्य की बात अवश्य थी कि कुछ देर पहिले की सुधा में और इस सुधा में इतना अन्तर क्यों है? पहिले जैसे वह मुक्त थी, सहज घुलमिल जाने के लिये अब जैसे दूर रहने के लिये सतर्क है! क्या ऐसी नारी—जिसके विषय में लोगों की ऐसी ही धारणा हो कुछ सोचती है,

समझती भी है, और सोचने-समझने के पश्चात् तो कोई ऐसी भूल नहीं करता जिससे बदनाम हो जाय।

पर सुधा में यदि नारी की वह सहज आर्द्रता न होती तो वह इतनी आत्मग्लानि से अभिभूत न होती। यदि यह वह मान लेती—एक क्षण दूसरे क्षण से बिल्कुल जुड़ा हुआ नहीं है, जो हुआ वह तो कुछ नहीं था—जो हो गया वह हो गया, उस पर सोच कर जीवन की पूर्णता का माप करना कितना गलत है, गलत न हो तो दुःख को देनेवाला तो है ही; पर ईमानदार मन अपने ही द्वारा किये गये कर्म को आँखों से ओझल नहीं होने देता।

और आज समाज में नितीन जैसे व्यक्तियों का अभाव नही है, वे पश्चिम के आधुनिक विचारकों की उपज हैं; और फिर इस प्राचीन देश की प्राचीन मूल नैतिक भावनाओं से बँधे मनुष्यों को अपना माध्यम बना लेते हैं। पर इसमें दोष किसका है, सुधा यह दोष अपने ऊपर लेना चाहती है। तभी तो इतनी आत्मकेन्द्रित है, पर शायद उसके हृदय का रोषपूर्ण व्यवहार यह कहता है—इस सबका उत्तरदायित्व उस पर है जो समझ-बूझकर दूसरों को धोखा देता है और जो भावुकता को अपने सुख और आनन्द के लिये खरीदता और बेचता है।

तब क्या नितीन का संबंध औरों से नहीं है! है। है इससे ही क्या? सुधा ने स्वयं आँखों से देखा है और कानों से सुना है, ये ही वाक्य, वही शब्दावली, वही नाटक वह दूसरों से करता है जिनसे उसे कुछ चाहिये और पूर्णता के पश्चात् वह फिर दूर हो जाता है—जैसे वह वहाँ था ही नही।

शाही हमाम को देखने के बाद, सीढ़ियाँ उतरना सुधा को कठिन हो गया, उसे तब जैसे सहारा बहुत आवश्यक समझ में आया और फिर शैलेन्द्र के आ बढ़ जाने पर उसने जय के कन्धे का सहारा माँग ही लिया। जय समझ रहा था—सुधा थक गई है किन्तु केवल शारीरिक श्रम उतना नहीं था जितना मानसिक।

उसे कुछ विशेष या नवीन मालूम हुआ तब जैसे वह सोच रहा था:—सुधा दया की पात्र है। किन्तु है तो ऐसी ही जिसकी स्निग्धता में बिछल

जाना कोई बड़ी बात नहीं है। और फिर सुधा स्वस्थ होने पर भी न हो सकी। उसके कानों में परिचितों के वे शब्द सुनाई पड़ रहे थे जिनके द्वारा उसे नितीन से बचने की सलाह दी गई है, वह चरित्रहीन है, उसका संपर्क अनेकों से है, वह यही भुलावा प्रत्येक को देता है।'

पर तब जैसे उसके कान बन्द थे। उसे कुछ सुनाई ही न पड़ता था। उल्टे वह नितीन को डाँट कर पूछ लिया करती।

'सुना है, लोग तुम्हारे विषय में क्या कहते हैं—पर यह बताओ मुझे विश्वास क्यों नही होता।'

'सचाई, सचाई है सुधा और झूठ झूठ। मैं तुम्हारे लिये कोई नया तो नहीं हूँ।'—यही उसकी संक्षिप्त उत्तर था।

पर क्या यही सचाई है कि वह जानते-बूझते कि उसका और मेरा शारीरिक संबंध हुआ है और किसी का नही तो वह यह कहे, मैं इसे स्वीकार नही करता सुधा—और लोग क्या कहेंगे, यह तो कैसे हो सकता है। तब क्या यह केवल शारीरिक भूख थी जिसे प्रेम की संज्ञा दी गई, ऐसा प्रेम जो अन्धेपन का पर्याय है। यह स्वीकारोक्ति मनुष्य में क्यों नहीं है, मैंने भी कितने तर्क अपने प्रेम की दलील में न दिये थे—लोगों के पास उसका कोई उत्तर नही है पर वे कितने झूठ और गलत थे, तभी प्रेम केवल शरीरी तो नही है, शरीर को बचाये रख कर...

जय ने निस्तब्धता भंग करते हुए पूछा—'आप तो यहाँ पहिले भी आई होंगी?'

चलते हुए वे शब्द सुधा को ऐसे मालूम हुए मानों किसी की झाँई से पर कुछ कुछ अस्पष्ट—

उसने कहा—'जी।'

'आप तो कई बार यहाँ आई होंगी।'

'कई बार तो नहीं पर यह तीसरी बार है। आपको तो किला पसंद आया।'

'अपनी पसंद की और न पसन्द की क्या बात है। किसी की पसन्द को दूसरों की पसंद से नही तौला जा सकता। यह पसंद तो शाहंशाहों की है और...' वह हँस पड़ा।

'और एक कलाकार विचारक क्या किसी महाराज से कम है ?'

'मैं आपकी यह बात सुधा देवी मानता हूँ, पर महाराज या शाहंशाह की कलाकार से क्या तुलना ? दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। एक भोगता है दूसरा क्षय होता है, एक के पास भौतिक जीवन की पूर्णता है और दूसरे के पास काल्पनिक जीवन की। बोलिये—एक ऐश्वर्य में रहता है, दूसरा कुटियों में रहकर हवा खाता है। और मैं तो दोनों में से कुछ भी नही हूँ। भौतिक चकाचौध में उसकी ओर खिचता हूँ तो कोई कल्पना की जंजीर पैर में बाँधकर खींचता है। पर वह जंजीर शायद बँधी बहुत मजबूत है।'

सुधा ने सब सुन लिया था—पर शायद बात इतनी सरल नही थी जिस ढंग से जय कह रहा था।

शैलेन्द्र ने कहा—'तभी तो मैं कहता हूँ, वर्तमान परिस्थिति को देख कर उसी के अनुकूल क्यों नहीं बनते—वह चकाचौंध, चकाचौंध ही नहीं तुम्हारे निकट सत्य बन कर आ जायेगी। फिर कल्पना की नैतिक जंजीर को तुम अपने-आप ही अपने पैर से बाँध सकते हो।'

बात शैलेन्द्र ने ऐसी कही थी जिस पर सोचना आवश्यक था, पर जैसे तीनों ही केवल बोलने के लिये बोल रहे थे—नहीं तो क्या कोई एक-दूसरे की बात इतनी सहज रूप में स्वीकार कर लेता।

विषय बदल गया था—सुधा फिर कुछ चैतन्यता अनुभव कर रही थी, उसकी चाल में भी पर्याप्त फुरती थी। वे लोग सावन-भादों के फव्वारों के पास पहुँच रहे थे। सुधा ने वही स्थान बैठने के लिये चुना था—और फिर केवल एक घंटा शेष था। उसके बाद अजायब-घर भी देखना था; पर जय का विचार था अजायब-घर क्या देखा जाय ? किसी बादशाह के उपयोग की दस्तकारी, अस्त्र-शस्त्र, पुरानी कारीगरी ! शायद वह चाह रहा था थोड़ी देर बैठ कर सुधा के विगत से अपना संपर्क बनाले—फिर उसकी समझ में यह बात तो नहीं आ रही थी, सुधा ऐसी क्यों है ? आधुनिक, आधुनिक ही नहीं, भौतिक साधनों से सम्पन्न, उनकी ओर झुकी हुई। पर राधा पढ़ी-लिखी तो इतनी ही है पर ऐसी क्यों नहीं है, वह किसी से हँस

बोल कर वार्तालाप नहीं करती, वस्त्र आभूषण पहिनकर कहीं कुछ खने को उसका जी नहीं करता। मनोरंजन से उसे प्रेम नहीं है जैसे कोई समाधिस्थ योगी हो! उसे उसका प्रिय भी नहीं चाहिये। शायद चाहिये हो, इस रूप में नहीं, तब जैसे वहाँ से दोनों ऊपर उठ कर नीले आकाश के नीचे लहरों में डूबते-उतराते, हंसते-बोलते, खेल-कूद करते तन्मय होकर राग में विभोर हो जाते और शायद इसलिये वह दुःखी नहीं है। जो उसने मान लिया उसकी चिंता में—उसकी पूर्णता में गलाना ही तो शेष रह गया है। उसे सम्पूर्ण जो प्राप्त हो गया। वह प्रेम से साक्षात्कार कर सकी है—उसे बनाये रखना चाहती है।

तभी दर्शकों का एक और समूह वहाँ से निकला। शैलेन्द्र के किसी निकट मित्र का बुलावा पा कर वह थोड़ी देर उन लोगों से दूर बातें करने की अनुमति ले कर चल दिया, तब सुधा भी चाह रही थी—वह प्रो० साहब को सब बता दे—वे उसे गलत न समझें और शायद जय भी चाह रहा था—सुधा ऐसी क्यों है, एक ओर सम्पन्न और दूसरी ओर विपन्न!

●

सात . . .

कुछ क्षणों तक कोई किसी से न बोला—तब जय ने मौन भंग करते हुए कहा—'तो सुधा देवी, यदि आप बुरा न मानें, एक बात पूछ सकता हूँ?'

'पूछिये ना—उसने स्वस्थ होते हुए कहा—'जो आप चाहते हैं, सब कुछ। पर यह अनुमान न लगाइयेगा कि जो हो चुका वही सब कुछ था—कुछ होना भी तो शेष है।'

'वह तो ठीक है, पर यह एक तीव्र जिज्ञासा है, आप अन्यथा न समझें। मैं आपसे मिलकर जिस स्थिति में हूँ वहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है। एक-दूसरे से थोड़ी. . .'

'जो आप चाहते हैं मैं स्वयं बताये देती हूँ',—उसने कहा जैसे वह सोच रही हो, जय को सब बातें बता देने में क्या हर्ज है, एक विशुद्ध प्रभावशाली व्यक्तित्व जो है, फिर गंभीरता के साथ स्वस्थ निकटता का पक्षपाती। और शायद बुराई कह देने से बुराई नहीं रहती, कम से कम उसकी कड़वाहट तो कम हो जाती है।

तब जय को आश्चर्य था—सुधा उसके मन की बात कैसे कह सकती है, तो क्या वह जानती है कि मैं उसके विषय में कुछ जानता हूँ, पर शायद नहीं, उसका ही अनुमान यदि निष्प्रयोजन हुआ, व्यर्थ हुआ तो ?

'तो सुनिये ! आप जानते हैं, शायद आपको बताया गया होगा... मैं...'

उसका आवेश बढ़ रहा था, शरीर में एक सिहरन थी, जैसे विद्युत् से छू कर कोई वाक्य निकलना चाह रहा था।

'आप नितीन को जानते हैं, शायद जानते हों, शायद शैलेन्द्र ने आपको बतलाया होगा। मेरा अनुमान है जो मेरे विषय में जानता है, वह उसके विषय में भी जानता है। लेकिन अब वह कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है।'

जय ने रोकते हुए कहा—'बस, सुधा देवी। मुझे कुछ नहीं पूछना है और सुनना भी नहीं है। आप स्वस्थ नहीं हैं। और यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसे आप सर्वोपरि समझती हैं। आपको कष्ट हुआ। कृपा कर क्षमा कर दीजिये। मेरी तरफ देखिये...'

जय ने यह कहते हुए सुधा के आर्द्र नेत्रों को देखना चाहा। तब उसे ऐसा मालूम हुआ उसने बहुत बड़ी भूल की। सुधा को...वह क्या सोचेगी ?

और थोड़ी देर वहाँ मौन छाया रहा। सुधा ने अपना मुँह छिपा लिया। कुछ देर अपने-आप में छिपाये बैठी रही—तब जय ने सुनी —एक कराह, एक हिचकी, एक अव्यक्त घेरे में बँधा हुआ उस का व्यक्तित्व ! पर वहाँ कुछ था नहीं। पूर्व और पश्चात् की मधुर एवं कड़वी स्थिति, घटना तो थी ही नहीं। या यों कहो लहरों को तरंगित करने-वाले स्थिर टापू से टकरा कर लहरों का वेग जैसे बढ़ गया हो, बस !

फिर सुधा को ध्यान आया--वह कहाँ है, और किसके साथ बैठी है, जैसे विगत एक झटके में विस्मृत हो गया।

'प्रो० साहब क्या सोच रहे है ?'--उसने कहा।

'कुछ नहीं सुधा देवी, यही कि योग संयोग की बात, मै वर्षों में तो दिल्ली आया और यहाँ भी आप से भेंट हो गई--और फिर ऐसी जिसे भुलाया नही जा सकता। और याद रखने का और कोई अर्थ मैं नहीं जानता, जिसमे साक्षात्कार होता है वही, और वह जो स्वयं भी याद रखना चाहता है।'

पर शायद जय ने जो कहा था--वही वह सोच नहीं रहा था। उसे आश्चर्य था सुधा पर। इतनी भावुक और फिर भी इतनी सचेष्ट, हँसमुख, मिलनसार। और जैसे फिर भी किसी से संबंध बनाये रखने में हिचकने की क्या बात है, पर केवल क्षण के आनन्द में विश्वास रखते हुए भी दूसरे क्षण को विस्मृत नहीं करना चाहती। वह अनुमान लगा रहा था--शैलेन्द्र का सुधा के विषय में विचार गलत है, वह कुछ है तभी तो शेष है। या कोई उस बात को छूकर उसे फिर जागरूक कर देता है। तो वह ऐसी कैसे हो सकती है, कुछ नहीं--केवल अर्थ पर खरीदी हुई या सुख-भोग के लिये लालायित, अतृप्त।

'ठीक है'--उसने कहा--'आपकी बात दार्शनिकों की बात है प्रो० साहब। वैसे कुछ लोग जब तक परिचित नहीं होते कुछ लगता नहीं फिर परिचित होने के पश्चात् तो...'

'तो भुलाये नहीं जाते'--जय ने मुस्कराते हुए कहा, तब शायद सुधा कुछ लजा गई, शायद उसी की बात जय ने कह दी हो।

और यह सलज्ज दृष्टि अपने आप में कितनी निरीह नहीं होती। पर शायद इसी की कुछ ऐसी पहुँच है जहाँ से बच सकना आसान भी नहीं है और स्वाभाविक भी नहीं।

जय ने उठते हुए कहा--'चलो, कुछ घूम लें--शैलेन्द्र तो बातों में ही उलझ गया।'

सुधा उठ बैठी, वह पहिले से कुछ अधिक स्वस्थ थी।

उसने एड़ियों पर वजन देते हुए कुछ ऐसी चाल चली—जय विस्मय-विमुग्ध रह गया ! पर अपनी स्थिति से जागरूक हो जैसे कोई प्रभालोक उसके चारों ओर चक्कर लगा रहा हो; मानो लक्ष्मण-रेखा हो कि जो उसके भीतर जायगा भस्म हो जायगा या फिर जब उसे तोड़कर सीता ही निकल आयेगी तो...

सुधा ने कहा—'मुझे उपदेशों से बहुत चिढ़ है और ऐसे नैतिक आवरणों से जहाँ जीना दो क्षण कठिन हो जाये। पता नहीं आपका क्या विचार है ?'

वह जैसे उत्तर पाने के लिये रुक गई थी—जय ने कहा—'आप ठीक कहती हैं, उपदेश तो उपदेश ही है, शायद जो देता है वह भी पालन नहीं करता और नैतिकता की बात पृथक् है, अपनी अपनी जगह उसकी भी पृथक् स्थिति है। और सुधा देवी, मेरी इस संबंध में कोई विशेष मान्यता नहीं है, नहीं तो क्या मैं और तुम ऐसे स्वच्छन्द रीति से मिल सकते थे।'

सुधा ने जैसे अपने आपको विस्मृत कर रखा था, वह उसके इतने निकट चल रही थी मानो स्पर्श चाहती हो, गति के लिये प्रवेश के लिये। उसने देखा जय का लम्बा हाथ घुटने के तनिक ऊपर है और उसकी बड़ी-बड़ी पतली ऊँगलियाँ मुक्त विहार करती डोल रही हैं। तभी उसे ऐसा लगा—यह व्यक्ति कितना महत्त्वपूर्ण होगा, क्या पता ? पर ये कोमल उँगलियाँ...!'

उसने जय का हाथ पकड़ लिया और तब अपने अंक में भरते हुए कह उठी—

'आपकी ऊँगलियाँ बहुत अच्छी हैं। इन्हीं के बल आप आप हैं, तभी तो इतने मधुर हैं। और मेरा अहोभाग्य ! आज मैं इन्हें देख पा रही हूँ।'

जय सोच रहा था क्या कहे ? एक तीव्र आक्रोश उसके मन पर छा रहा था जैसे जो कुछ हो रहा था उसके लिये वह तैयार नहीं था। फिर दूसरे क्षण उसे ऐसा लगा जैसे उस यौवन-विनत हृदय की मधुमयी

पीड़ा का वह अपमान कर रहा है । शायद सुधा और कुछ न चाहती हो तब ।

उसने कहा—'मैं ऐसा कहाँ हूँ । हाँ, पहिले के लोगों का कुछ अनुमान अवश्य है पर क्या सच ही ये उँगलियाँ ऐसी हैं जो किसी को पसंद आयें ?'

'आयें नहीं, आ गई हैं ?'—उसने हाथ उठाया और अपने कपोलों पर लाकर तन्मय हो गई । अपनी स्थिति का अनुमान जय को शायद नहीं था—पर वे लोग घूमते-घूमते किले के एक ओर निकल पड़े थे । वहाँ मिलटरी की बैरक्स हैं पर उसने हाथ नहीं छुड़ाया; शायद वह चाहता भी न हो । और उसके मौन का अर्थ था—उसे सुधा की यह स्थिति स्वीकार थी । उसने स्वीकार कर ली थी और इतने सहज ! वह सोच रहा था—राधा के साथ छः वर्ष बीत गये पर जैसे उसे देखकर कभी ऐसा नहीं लगा, उसके सौन्दर्य का स्पर्श कर लिया जावे; पर सुधा जैसे उसका यदि कोई ऐसे स्वागत न करे तो शायद वह अपने आप को अपमानित समझे । तो वह क्या चाहती है ? भोग या अतृप्ति, प्रेम या तृप्ति । नहीं नहीं, शायद दोनों पर क्या उसे मालूम है मैं उसे नहीं दे सकता—पर यह नहीं हो सकता । जो निकट आये उसे दुत्कार दिया जाय, जो स्निग्धता माँगे उसे गर्म कड़ाहे में झोंक दिया जाये । पता नहीं यह सब उसे क्यों अच्छा लगा । पर जैसे तर्क और उत्तर अपने आप ही बनते थे और बिगड़ते भी ।

जब सुधा ने उसकी उँगलियों को अधरों से लगाकर छोड़ दिया तब उससे न रहा गया—उसने कहा—'सुखी रहो ।' जैसे अपने आप से ही कह रहा हो, भाव विमुग्ध । जैसे वह सुख की अनुभूति में आनंदित हो या कहीं विस्मृत ।

तभी दोनों ही चौंक पड़े । शैलेन्द्र की पगध्वनि, उसकी अलमस्त चाल और बेसुरे गाने ने उन्हें सचेत कर दिया वह आ रहा है ।

और वह गा रहा था—शायद ध्रुव पंक्ति ही उसे याद हो, कुछ अस्पष्ट पर उसके पैरों में पर्याप्त गति थी ।

सुधा मुड़ गयी और तब जय भी। पर क्यों, ऐसा क्यों हुआ? सुधा ने कहा—

'यहाँ मोड़ आ गया। पर तुम...आप क्यों मुड़ गये?'

जय के पास उत्तर नही था। उसने हँस कर कहना चाहा—

'हर नया मोड़ स्वागत के योग्य नही होता; पर कह गया—उसके मुँह से निकला—'मोड़ के पूर्व और पश्चात् के क्षण एक से नहीं होते और वह तो और भी कठिन है कि एक मुड़ जाय और दूसरा नहीं जो...'

'ह्वेरी सारी'—शैलेन्द्र ने अपनी आदत के अनुसार कह डाला। फिर उसे लगा जय को ऐसी अंग्रेजी से बड़ी चिढ़ है जो बीच-बीच में आदतन बोली जाती है, गुलामी की आदत है, कोई अच्छी आदत नहीं है।

'बड़ी गप्प लगाई'—जय ने कहा।

'यूँ ही दफ्तर के आदमी थे।'

'दफ़्तर के बाद भी—दफ़्तर की बातें!' उसने कहा—'कभी तो चैन लिया करो और भाई दफ़्तर के धंधे के बाद अपने को नौकर समझते हुए तुम्हारा स्वाभिमान मर नहीं जाता।'

'स्वाभिमान मर गया है, तभी तो नौकर हूँ जय! खैर जाने दो। चलो, बड़ी देर हो गई मुझे। थोड़ी देर में यह बन्द हो जायेगा और अभी तो बहुत घूमना है।'

तब तीनों ही वहाँ से मुड़ पड़े।

और मोड़ होता ही ऐसा है, मालूम नहीं कहाँ कौन-सा क्रम भंग हो जाय। पर कभी-कभी क्रम भंग होता भी तो नहीं है। सब मुड़ जाते हैं जैसे करोड़ों मिलटरी के जवान, केवल एक आज्ञा पर। पर यहाँ जैसे मोड़ कुछ लकीरें बना रहा था, सतह के ऊपर। अस्पष्ट और धुँधली।

शैलेन्द्र का अनुमान था, सुधा और जय की इतनी निकट वार्ता उन्हें और निकट लाई होगी, तभी वह भी तो उसे छू कर अमर्ष की थाह लेना चाहता था। जैसे वह अपने मित्रों में खड़ा हो कर बात-चीत तो

कर रहा हो, पर ध्यान उसे सुधा का ही था। और केवल सुधा! केवल सुधा का अब क्या महत्त्व? अब वहाँ जय भी था, छाया के समान आवृत्त, मनुष्य की स्वयं की ही परछाई! अस्तित्वहीन, पर प्रकाश के साथ बढ़ने-घटने वाली। पहिले जैसे जय था तो, पर अपनी एक स्वतंत्र इकाई के रूप में। एकाकी जय, उसका पिंड-सा—दिखने में स्थिर पर अब जैसे उसके साथ दूसरा भी था। कौन अधिक प्रखर है—उसके सामने शायद यही स्पष्ट नहीं था।

जय वहाँ से मुड़ा नहीं था। वह जो था, उससे बदलने की या परिवर्तन की क्या बात है? कोई नई बात तो वह अवश्य थी जिसके पास वह पहुँचना चाहता था। पहुँचना क्या, जैसे वह वहाँ आत्म-विस्मृत हो—फिर दूसरे क्षण सजग, सचेष्ट! 'यह गलत है, अनैतिक भी है।' और उसके इतने दिनों के श्रम से निष्पन्न योजना पर जैसे वह फूट-फूट कर रोना चाहता था। यह स्वीकृति समाज ने क्यों नहीं दी? प्रत्येक को मुक्त रहने की, उन्मुक्त पक्षी की भाँति। कलरव के लिये स्वतंत्र वाणी, उड़ने के लिये सबल पंख और मोहित करने के लिये सौन्दर्य। यह आदमी इतना बँधा क्यों है, सब ओर से बँधा हुआ। मेरे देश में यह बंधन बड़ा प्राचीन है, नैतिक गुणों से कसा हुआ। क्या और देशों में भी ऐसा ही है? और जब इतना बँधा है, जय मनुष्य मुक्ति के साधन सोचता है। उचित, अनुचित सब कुछ। फिर यदि उसे स्वतंत्रता का आश्वासन मिला होता तो!...

पर दूसरे ही क्षण उसे मालूम हुआ—कहीं कुछ उसमें कम हो रहा है, जैसे कोई चीज उससे दूर हो रही है। 'लोग यह स्वतंत्रता इसलिये चाहते हैं कि वे कुछ भी कर सकें, कैसा भी कुछ! फिर आचार, व्यभिचार और सदाचार की संज्ञाओं से मुक्त, चरित्रहीन और चरित्रवान् की प्रतिष्ठाओं से ऊपर और या फिर अपने आदिम रूप में प्रारम्भ से सोचने और अनुभव लेनेवाला आदमी। कोई क्या नहीं बनना चाहता?'

फिर एक और तर्क उसके मस्तिष्क में करोंद रहा था।

'चाहता क्या, एक नियम—एक क्रम में बँधा हुआ चेतना पुंज ! कभी एक छोर से दूसरे छोर पर, कभी दूसरे से पहिले पर। सुख के किनारे से दुःख की परिधि रेखा पर नही पहुँचेगा ऐसा कैसे हो सकता है, एक जीवन में शायद सब कुछ न होता हो या इसी में हो जाया तो ? और फिर नियति का कठोर अनुशासन—भाग्य-चक्र की लकीरें सबसे ऊपर हैं। नियति नारी और पुरुष के दो गोलों से खेल रही है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्प्रेक्षण होता है—नारी उसे खींच लेती है—आकर्षण होता है और कहीं इसके विपरीत भी। शायद उत्प्रेक्षण और आकर्षण भाग्य की बात है, शायद अपने-आप तो कोई ऐसा क्यों होना होगा ?'

पर फिर भी वह सन्तुष्ट नही हुआ। सुधा के प्रति वह निकटता उसकी अपनी मनोवृत्ति के फलस्वरूप है, यह वह कैसे नही माने जो है उसे वह वैसा ही क्यों नही मानता। तथ्य से छिपना क्यों है, या फिर सत्य और तथ्य से भाग खड़ा होना चाहता हो !

चलते-चलते शैलेन्द्र ने कहा—'सुधा देवी, आपने तो बहुत सैर की होगी पर जितनी पसंद मुझे दिल्ली आई उतना और कोई शहर नही। यहाँ क्या नहर है ?'

वह चाहता था कि सुधा उसे बतलाये, उसे दिल्ली पसंद है और अगर पसंद नहीं है तो आखिर क्यों ?

'यह तो नही है कि मैं घुमक्कड़ हूँ। पर देखा बहुत है, मुझे दिल्ली रत्ती भर भी पसन्द नही। यहाँ जीवित रहना एक समस्या है। मुझे तो पहाड़ी प्रदेशों से बहुत प्रेम है ? और वे घूमे भी हैं।'

पर जैसे यह बात पूरी नही हुई। जय ने कहा—

'कुछ लोगों को प्राकृतिक स्थल अच्छे लगते हैं और कुछ लोगों को मानवीय, दिल्ली की कला मानवीय है—मनुष्य की सृष्टि है, प्रकृति की सृष्टि तो जन्मजात है। और फिर पसंद तो पसंद ही है, जहाँ मन रीझ जाय।'

जय की बात ऐसी थी जैसे उसे दोनों ही पसंद हैं, और उसका और स्थान का संबंध होने भर का है, तभी तो !

तभी वे लोग किले के दूसरे छोर से मुड़ पड़े और तब ऐसा देखने को वहाँ और क्या रह गया था। जय ने सोचा, कुछ ऐसा--जहाँ विचार भावना में बँध कर नृत्य कर उठें। जहाँ हमारी सुन्दर कल्पनायें शिवम् का नीड़ बनाकर सत्य की थाह पा सकें। वहाँ उसे अनुभव हुआ, जैसे कुछ नहीं हो, अवशेष, पत्थरों के प्राचीरों के, तथा काल और गति के अवशेष! जैसे संसार का महान् तथ्य बिखरा पड़ा हो।

तथ्य नहीं तो यह क्या है, काल एक तथ्य है, स्थान भी और होना भी। जो नहीं है वह कैसा तथ्य! और फिर जो हो चुका है, उसके प्रति यह उपेक्षा, अपने दैन्य के साक्षात्कार से इतना भ्रम?

और सुधा जैसे कुछ देर के लिये सोचने से मुक्त होना चाहती थी, बिल्कुल मुक्त। कभी-कभी ऐसा ही होता है, जब बौद्धिक जगत् से मानव भाव-जगत में पहुँचना चाहता है। चाहता क्या है, उसमें कुछ देर डूबकर रहना चाहता है। कुछ वही इतरा भी जाते हैं, पर...

वास्तव में मनुष्य की यह स्थिति कितनी विचित्र है, चाहे बुद्धिजीवी हो या भावुक, कहीं डूबा हुआ, कहीं उथला और...और कहीं इतरानेवाला। कोई एक नियम नहीं, क्रम नहीं। एक में ही इतना वैचित्र्य, अनेकों में भी एक-सी विचित्रता। कहीं मिली-जुली--ठीक एक जैसी, जैसा एक साँचे का ढला हुआ माल हो। और कहीं इतना वैचित्र्य कि मानों भानमती का पिटारा हो। फिर भी ऐसा नहीं है कि कोई अपने अहं को मिटा दे। शायद लोग सोचते हैं, अहं मिट जायगा तो रहेगा क्या? हाड़-मांस का बना हुआ ढाँचा--जीवित मनुष्य! जैसा चाहो वैसा कर लो।

पर शायद वे ठीक सोचते हैं--'अहं मिटाया क्यों जाय?'

जब शैलेन्द्र कुछ आगे निकल गया और जय कुछ पीछे रह गया, तब सुधा ठिठक गई, जैसे वह चाह रही हो--जय को साथ ले ले। उसे भी..

और तब पलक लगते ही वह उसके साथ चल रही थी, पैर से पैर मिला कर। उसने कहा--'कविता, कवि के साथ साथ चल रही है।'

और फिर वही अंग्रेजी में भी दुहराया।

शायद वह उत्तर नहीं चाह रही थी, शैलेन्द्र भी ठिठक गया हो, जैसे उसने कुछ सुना तो पर कहा कुछ नहीं।

जय ने कहा—'शायद इसका उल्टा अधिक उपयुक्त है कवि...'

तभी सुधा ने ऊपर देखा, जैसे कहना चाह रही हो—'बस, बस! कोई और भी तो सुन रहा है, जिसे...'

कभी-कभी ऐसे घूमने में बहुत बातें हो जाती हैं—कभी-कभी बिल्कुल मौन हो जाना पड़ता है जैसा वहाँ स्वाभाविक हो।

सुधा गौरव का अनुभव कर रही थी—सच, ही वह किसी की भावना के अनुरूप अपने को बना सकती है' और जय के साथ वैसी ही सलज्ज, भाव विनम्र, कल्पनायुक्त—कविता शायद उसे न मालूम हो। कविता कवि की सृष्टि है, ऊपर से बदली हुई या बनाव-शृंगार की हुई भाषा कविता तो नही है।

जय ने कह तो दिया था पर वह कुछ था ही नहीं। 'सुधा को बड़ा भ्रम है, मैं कुछ नहीं हूँ। और अगर कुछ हूँ तो वह सुधा के अनुमान से पृथक्। केवल राधा इसे जान सकती है—वह भी शायद न जानती हो—उसकी मान्यताएँ, उसकी मनोनीत समाज-व्यवस्था के लिये हैं, वह जानते हुए भी अस्वीकार कर सकती है। पर जो कुछ बौद्धिक और भावुक है वह सब उसका है, उसकी प्रेरणा है। इसे मैं अस्वीकार नहीं करता—कम से कम ऊपर से तो—पर बात सही यही है। और जो कुछ व्यावहारिक है, यथार्थ है, जगत का है—वह सब रानी का। मेरे जीवन में यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य, कल्पना और सत्य का यह विराट सम्मिलन, त्याग और भोग का मनोरम स्वरूप ऐसे नहीं आया है!

'और इससे अधिक तथ्य मुझे नहीं चाहिये। मैं तथ्यों का संकलन नहीं चाहता। मेरे जीवन में इन दो धुरी केन्द्रों को समझने की सामर्थ्य ही नहीं और वात्याचक्र में उठने-गिरनेवाली लहरों को पहिचानना कितना कठिन है!

'और सबके साथ यह समाज जुड़ा हुआ है, समाज की संज्ञा स्वयं में वैचित्र्य का प्रतीक है। व्यक्ति से घृणा और स्वार्थ की दो अजब चित्र-पटी में समाज का ढाँचा खड़ा है, जब समाज की आदर्शवादी कल्पना की गई होगी तब शायद यह न सोचा होगा कि इकाई कितनी शक्तिशाली है, वह थोड़ी देर को किन्हीं तथ्यों पर एकत्रित भले हो जाये; पर फिर वह स्वयं कुछ है, उसी के लिये समाज है।

जय के मस्तिष्क में ऐसे विचार उस क्षण उठ रहे थे जिनके विषय में वह निश्चित नहीं है--उसने सोचा, 'मेरा सोचना गलत है, समाज घृणा और स्वार्थ के ऊपर मंगलमय दृष्टि की मांगलिक अनुभूति है, उसी के लिये तो इकाई है, उसके बिना मनुष्य की क्या कीमत ? समाज केवल जन्म देता है यह बात नहीं है, वह पालता भी है, आनन्द और प्रेम भी देता है। इकाई उसी की पुष्टि तो करती रहती है। जहाँ उसके अनुकूल नहीं हुई उसे मिट जाना पड़ता है।

पर यह सब सोचने के पश्चात् भी वह अपने विचारों को स्थिर नहीं कर पाया।

और शैलेन्द्र ने देखा--जय कुछ सुस्त हो गया है, अपने आप ही, और अचानक। वह ऐसा नहीं था। उसकी सुस्ती किसी पर प्रकट न होती हो--पर शैलेन्द्र जिस दृष्टिकोण से जय की भाव-भंगिमा को देख रहा था उससे ऐसा ज्ञात हुआ कि जय वहाँ उनके साथ बिल्कुल नहीं है, सुधा के साथ भी नहीं, और जैसे सुधा वहाँ केवल जय के लिये ही थी। वह यह सब देख कर भी चुप था, वह कहाँ है ? उसकी कोई स्थिति नहीं थी।

तभी सुधा ने कहा--'कहो शैलेन्द्र दा, भाभी को नहीं लाये ?' जैसे उसे अचानक स्मरण हो आया हो--और शायद उसे यह भी लगा हो उसने शैलेन्द्र से बहुत देर से कोई वार्ता नहीं की है।

'अब तो तीन-चार दिन के लिये बात गई'--उसने कहा--'जय नहीं चाहता मैं उसे छोड़ कर चला जाऊँ।'

पर जय ने शायद सुन ही नहीं पाया कि उसके लिये भी कुछ कहा गया था।

आखिर शैलेन्द्र चाहता क्या था—वह स्वयं भी इसका विश्लेषण नहीं कर पा रहा था। अंग्रेजी सभ्यता के साथ—मित्र की कोटि की जान-पहिचान, हास-परिहास, खेल-कूद, बड़े-बड़े शहरों में खूब सम्मान पा गये हैं। वहाँ कोई संबंध तो नहीं होता और शायद प्रतिबन्ध भी नहीं—पर वहाँ खूब सैर होती है, पार्टियाँ भी; पिकनिक और सिनेमा भी। और दो विरोधी सेक्स ऐसे मिलते-जुलते हैं जैसे एक हों? फिर फल तो वही होता है जो निश्चित है, बँधा हुआ है। तो वहाँ बुराई अनुभव करने के लिये नहीं होती। बुराई होती कहाँ है?

किन्तु यह तर्क कोई सबल बात नहीं देता।

वह चाहता था प्रत्येक मनुष्य अपनी स्थिति को समझता-बूझता हुआ खूब मिले-जुले, जीवन को देखे और समझे। पर दूसरे क्षण उसे वहाँ मधुर उष्णता क्यों मालूम पड़ती थी—यह स्वयं नहीं समझ पाया। अरस्तू के श्रेष्ठ राज की कल्पना-या उसका विचार अपने-आप में कितना उलझा हुआ था; और उलझा हुआ हो क्यों, जैसे वर्तमान युग ने इसी रूप में यह सब उसके सामने रखा था।

गाँव के पुराने जीवन में जो मान्यताएँ आज भी हमारे देश में प्रचलित हैं, उन्हें पढ़े-लिखे समाज में बैठनेवाले मनुष्य पता नहीं क्यों अच्छा नहीं समझते; और वे जो पढ़े-लिखे लोगों की मान्यताएँ हैं, उन्हें हमारे देश का वातावरण स्वीकार नहीं करता, या यह कहो, यहाँ की गहराई पर वह खरा नहीं उतरता, तभी ऐसी उलझन में विचारों की अस्पष्टता होना स्वाभाविक है। शैलेन्द्र भी वैसा ही था।

आखिर आज समाज कहने का वास्तविक अर्थ क्या है, और धर्म-कर्म आदि की मान्यतायें क्या नहीं हैं? इन सबकी कोई व्यवस्था नहीं है, मानों यह संक्रमण-काल है, व्यवस्था के लिये कुछ तो चरण हमें जोड़ लेना पड़ेंगे। पर क्या इसलिये नैतिक मान्यताओं का बन्धन तोड़ कर फेंक देना होगा? यह बात उसे करोंद देती थी। माँ, भाई, बहिन और पत्नी के संबंध को मानने पर व्यवस्था माननी ही पड़ती है और फिर

केवल अपनी नहीं, संपूर्ण समाज की। सारे समाज की लड़कियाँ, हमारी बहनें और लड़कियाँ हैं, और श्री रामकृष्ण परमहंस के मतानुसार अपनी पत्नी भी यदि दो-तीन बालकों की माँ हो, तो उसे भी बहिन के समान ही मानना चाहिये। यह बात शैलेन्द्र के मन को ठीक नहीं मालूम पड़ती थी। संपूर्ण नारी-समाज पूत और पवित्र है, और कहाँ कालेज में पढ़ी और गुनी हुई उसकी वह धारणा—जिसे उसने कभी प्रकट नहीं किया—प्रत्येक युवती भोग की सामग्री है, सुख और ऐश्वर्य की साथी—विलास और आनन्द की स्रष्टा! तभी तो जब कभी उसने आँख उठाई तो जैसे उसे वैसी ही दिखाई दी। पर शायद परिस्थितियों ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। और विवाह होने के बाद तो जैसे उसे अपनी सब कालेज की बातों पर क्षोभ हुआ।

फिर सुधा से संपर्क हुआ।

कुछ थोड़ी-सी देर घूम लेने के पश्चात् किले की बन्द होने की सूचना उन्हें मिली। दर्शकों के लिये समय समाप्त हो चुका था। और तब तीनों ही देख कर थक चुके थे। सोचा गया साथ ही इंडिया गेट की सैर भी कर ली जाय। पर जय को संकोच हो रहा था उसने कहा—'सुधा देवी को इस बात के निर्णय का अधिकार दिया जाता है, इसलिये कि उनकी स्थिति उससे पृथक् है, और फिर भाई साहब से पूछा भी तो नहीं है।'

शैलेन्द्र बीच में ही बोल उठा—'क्या आप सुधा को गाँव की लड़की समझ रहे हैं हजरत! और फिर यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है।' वह जैसे स्वयं अपनी बात पर हँसना चाह रहा हो।

पर सुधा स्वयं असमंजस में थी, जैसे उसे कुछ संकेत मिला हो, जय इस स्वच्छन्दता को नहीं मानता। शायद उसे यह सब अजनबी मालूम हो रहा हो। पर जैसे इतने देर हुई थोड़ी देर और सही, तो क्या आपत्ति है?

और फिर उसने कहा—'शायद प्रो० साहब लड़कियों और लड़कों में बहुत अधिक अन्तर करते होंगे, तभी तो।'

'पर पढ़ा कैसे पाते होंगे ? कोई बात नहीं, मुझे थोड़ी देर हो जावेगी तो शैलेन्द्र दा तो साथ है और इसमें कोई बुराई नहीं है—कोई बुरा काम भी तो नहीं है।' फिर जोर से हँसते हुए उसने कहा—'पहले कहीं बैठ कर चाय पी जावेगी और ऐसे सूखे घूमना तो बहुत मुश्किल है।' जय ने भी हाँ में हाँ मिला दी, पर भीतर से उसे ऐसा लगा जैसे इसका कोई इलाज ही न हो, सबका सब समाज इसी प्रकार है या फिर यह कोई बुराई नहीं है।

शैलेन्द्र ने कहा—'अभी थोड़ी देर पहिले किले के अन्दर शाही महलात में थे, अब फिर बाहर। तीन दिन के भिश्ती बादशाह की बात तुम्हें याद है न जय !'

शायद वह जय को चिढ़ाना चाहता हो, पर जय को ऐसी बातों से प्रभावित करना कठिन था। उसने कहा—

'चलो, वह तीन दिन का बादशाह था तो हम तीन घंटे के सही। यह क्या कम है ?'

'पर अब तो बादशाहत चली गई !'—सुधा बोली—'अच्छा हुआ, जिन्दगी को जीने और देखने का अवसर पहिले उन्हीं भाग्यवानों को होता था और अब तो हमें भी है।'

पर उसे मालूम हुआ, जय उसके प्रति कुछ उदासीन हो गया है। कुछ सोच रहा है।

किसी अच्छे होटल में चाय पीने का शौक भी एक शौक है, लोग अपना पेट्रोल फूँक कर जाते हैं, घन्टे आध घन्टे होटल में चाय पीते हैं, दस-बीस रुपये फूँककर लौट आते हैं, जैसे इनके पास जितना रुपया है उसकी उन्हें आवश्यकता नहीं है ? आवश्यकता होती तो उस की उपादेयता की ओर उनकी दृष्टि बिल्कुल ही न जाती हो, यह कैसे हो सकता है ! या फिर यह सब दूसरों से सीखा है और उनसे, जिन्हें रुपया इसलिये दिया जाता था कि रुपये का अधिक से अधिक उपयोग करें और उसके बदले में स्वामि-भक्ति का बिल्ला दिया जाय।

पर इस देश के लोगों को क्या हो गया है, उन्हें जो रुपया मिल जाता है वह यहाँ के श्रम की कमाई है, पेट काट कर लोग उन्हें देश और समाज की व्यवस्था के लिये देते हैं और इनके सगे सम्बन्धी, लड़के-लड़कियाँ बार और होटलों में फूँक कर अंग्रेजी शान को बनाये रखना चाहते हैं और बहुत हुआ तो फैशन में व्यय कर देते हैं।

जय को पता नहीं यह दोनों ही चीजें पसंद नहीं है, होटल के स्थान पर लोग-बाग स्नेह के साथ मिल-जुल कर बैठें, अदल-बदल कर तो वह बात तो नहीं आयगी जिससे घर की व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं है। एक जीवन खानाबदोशों का प्रतिनिधि है और दूसरा जीवन साभ्य और सांस्कृतिक है। उसे मालूम तो नहीं था कि शैलेन्द्र और सुधा उसे कहाँ और किस दशा में लिवाये जा रहे हैं, पर जैसे वह चाह रहा हो, यदि वास्तव में भूख लगी हो, थके हुए हो तो कभी बैठ कर भर-पेट खा लिया जावे, पर वह कुछ नहीं खा सका, शायद संकोचवश। शैलेन्द्र होता तो वह भी हो सकता था, पर सुधा के सामने! सुधा का वातावरण उसे कुछ पृथक् दिखलाई दिया, वैसे हृदय से नारी की आर्द्रता पूर्ण सौहार्द से ओतप्रोत है, सलज्ज है। पर ऊपर के जीवन ने उसे कुछ ऐसा बना दिया जिसे वह स्वयं नहीं जानती, और जब बना दी गई है तब उसे उसके विपरीत चलते हुए बड़ी अस्वाभाविकता मालूम होती है।

सुधा ने कहा—'प्रो० साहब, थक गये शायद, यहीं सामने के होटल में ठीक रहेगा, क्यों शैल दा?'

और तब उसने जय को आँखों भर देखा, और देखती ही रही। जय भी ठिठक गया और वह भी। सड़क पार करने के लिये वे लोग कुछ रुक गये थे और फिर थोड़ी देर में ही उन्हें इण्डिया गेट पहुँचना था। शैलेन्द्र शीघ्र ही सड़क पार कर गया पर सुधा ठिठक गई, और जय भी।

उसने धीरे से कहा—'आप नाराज हो गये क्या?'

जय जैसे झकझोर दिया गया। सुधा समझ गई कि वह नाराज है तभी सुस्त है, तभी प्रतिकार में कह उठा—'यह कैसे आपने अनुमान लगा लिया सुधा देवी! आपसे कैसी नाराजगी।'

'शायद !'—उसने कहा—'मेरी कुछ ऐसी ही आदत है, विनोद करने की। आप ठहरे दार्शनिक।'

फिर उसने कुछ नहीं कहा, पर एक मुस्कराहट ओंठों को छूती हुई उसके मुखमण्डल पर दौड़ गई। जय ने उसका स्वागत किया।

थोड़ी-सी ही देर में वे सब होटल में पहुँच गये।

कुछ इधर-उधर की बात चलती रहीं, जैसे जोर-जोर से बात कर वे लोग खूब हँस लेना चाहते हों। बात-बात पर हँसी बिखरी पड़ रही थी। और होटलों में तो जैसे इन सब की भुक्त स्वीकृति है। तभी जय की दृष्टि दीवार पर सामने टँगे एक चित्र पर पड़ गई।

एक अर्द्धनग्न नारी ! अर्द्धनग्न, अर्द्धनग्न ही नहीं, स्नान के कपड़ों में अपने पैरों को सुकेड़े हुए नदी के तट पर एक चट्टान पर बैठी है। कोई विदेशी आकृति—वैसी ही वेश-भूषा, वैसा ही कट, शायद बनाने-वाला यहाँ का ही कोई कलाकार होगा। वह कुछ क्षण उसे देखता रहा, तभी सुधा ने भी देख लिया—जय का ध्यान कहाँ है, उसने हँसी बिखेरते हुए कहा—

'तस्वीर शायद बहुत अच्छी लगी प्रोफेसर साहब !' और फिर जोर से हँस पड़ी।

'अच्छी है या नहीं, यह मैं नहीं देख रहा सुधा देवी, मैं तो यह देख रहा था किस कलाकार ने ऐसी कला दिखाई है, जिसे देख कर जी होता है उसकी कलम चूम ली जाय !' सुधा को कुछ समझ में न आया, जय ने क्या कहा, पर जैसे स्वयं ही अपने प्रश्न पर लज्जित हो गई।

ऐसी कई तस्वीरें उस सुन्दर सजे हुए होटल में लगी हुई थीं, बिलकुल साफ-सुथरी। पर वहाँ कुछ और नहीं था मानों उस होटल में बैठे हुए आप किसी विदेश के बाबू से कम नहीं हैं—वही बाँय, वही चाय की आवाजें !

पर इससे जय को विरक्ति क्यों है ? यूँ ही, शायद उसकी दृष्टि में यह सब हमारी उपज नहीं है, और पहिले हम अपनी सब बातों की

जाँच-पड़ताल कर लें तभी तो दूसरों की बातों को अपनायें। और अपनायें ही नहीं उन्हें अपने अनुकूल बनायें। अपनी भूमि के अनुकूल। यहीं की हवा के अनुकूल।

हम में से शायद कुछ सोचते हैं, दुनिया की जो दूसरी जमीन है, वहाँ का खाद यहाँ लाया जाय, वहाँ के बादल यहाँ बरसाये जायँ तब हमारा देश हरा-भरा होगा, तब हम कहेंगे हमने भी संसार में उन्नति की है।

और शायद इसीलिये जब हम हिसाब लगाते हैं, हम क्या बनें तो वही बेमेल की बात सामने आती है, किसान और अधिक किसान हो गया है और बाबूजी और अधिक बाबू हो गये हैं, सेठों-साहूकारों, पैसे-वालों की क्या बात है?

और यह सब शायद देश की आजादी के बाद बहुत जोरों से हो रहा है। जो आज शासन के नियामक हैं वे सब देशी साहब हैं। आई० सी० एस० उनकी समझ में यह बात नहीं आयेगी कि भौतिक जीवन की पूर्णता से ऊपर भी इस देश ने दुनिया को कुछ दिया है। फिर इन होटलोंवालों का क्या दोष है? यह तो जनता की रुचि के अनुसार अनुकूल बनकर अधिक से अधिक पैसा कमाना चाहते हैं। यही सिनेमा-वाले भी और..

कुछ लोगों की रुचि ही ऐसी होती है। उन्हें सब बात पसन्द होती हैं, कहीं भी कैसी भी स्थिति में वे आत्मसंतोष अनुभव करते हैं, पर ऐसे लोग समाज की बहुजन हिताय वाली परिपाटी के विरोधी होते हैं। उन्हें केवल अपने से, अपने राम से मतलब होता है। जय का विचार था कि अधिकांश समाज आज ऐसा ही है, हमारी समाज-व्यवस्था में संस्कार करने के प्रतिबन्ध समाप्त होते जा रहे हैं—तभी तो ऐसे लोग निकलने लगे हैं।

फिर थोड़ी देर में कुछ खाने के साथ चाय पी ली गई, वैसे ही हँसी भी। बातों की तेजी बन्द-सी हो रही थी, कुछ साधारण-सी बात, वह भी हाँ-ना में प्रकट होनेवाली।

जय से न रहा गया। उसने कहा—'सुधा देवी! आप लोगों को इस बात का विरोध करना चाहिये कि व्यापारी आप लोगों की तस्वीरों को बड़े विचित्र ढंग से प्रकाशित कर विज्ञापन करते हैं और इस प्रकार पैसा कमाते हैं। जो लोग ऐसा करते हैं, वे तो वास्तव में निम्नकोटि के हैं ही; पर आप का चुप रहना इस बात का प्रतीक है कि आप भी सहमत हैं।'

'नहीं प्रोफेसर साहब! हम कैसे सहमत हो सकती हैं? मैं भी इसी बात को बहुत दिनों से सोच रही हूँ। अभी अगली महिला कांग्रेस में इसके विरोध में प्रस्ताव रखा जा रहा है। पर आप लोगों को भी तो साथ देना पड़ेगा।'

शैलेन्द्र ने कहा—'क्यों नहीं? इस में प्रत्येक व्यक्ति से आपको सहायता मिल सकती है, बशर्ते आप लोग कोई मजबूत कदम उठावें।'

बात समाप्त होते-होते चाय भी समाप्त हो रही थी। होटल से निकलते समय जय कह रहा था—'मोटर के टायर का विज्ञापन हो वहाँ भी नारी का चित्र, साबुन और बीड़ी हो वहाँ भी उसकी अर्द्ध-नग्न तस्वीर, तेल, डालडा—कोई ऐसी चीज नहीं छोड़ी गई जहाँ नारी के सौन्दर्य को विज्ञापन का माध्यम न माना हो, पर अब इस देश में यह बन्द होना चाहिये।'

●

आठ . . .

अम्बर की चोटी और दूर तक फैली सड़क के किनारे-किनारे वृक्षों की पंक्तियाँ शायद इस बात की प्रतीक थीं कि उस सड़क पर मोटर-रिक्शा और साइकलों के अतिरिक्त पैदल व्यक्ति घूमने जा सकते हैं, तभी तो बडी सड़क के साथ दोनों किनारों से छायादार पगडण्डी भी थी। संध्या के समय वह स्थान विशेष चहलकदमी के लिये भी मानों

बनाया गया था। मोटर-रिक्शा में बैठा हुआ जय बड़े गौर से देख रहा था, कुछ एक-एक, दो-दो, कुछ चार-चार, छः-छः घूमने जा रहे थे। कुछ परिवारों के साथ पर कुछ एकाकी भी। परिवार वैसे कम थे, वह सोच रहा था आखिर यौवन और मादकता से आभूत ये रति और कामदेव के प्रतिनिधि अपने बच्चों को किसके सुपुर्द कर घूमने चल पड़े हैं! क्या इन लोगों के यहाँ इतनी आया हैं, और क्या सब दिल्ली में ही? पर यह क्या, यह तो मध्यम वर्ग का सिख परिवार है, हैं यह भी स्वच्छन्द। केवल दो व्यक्ति ही हैं। जो आयु भी कम नहीं है तब उसने मान लिया यहाँ कुछ ऐसा रिवाज ही हो तो क्या बुराई, पर या तो ये बच्चे नौकर-चाकरों के भरोसे छोड़ गये होंगे या फिर घरों में बूढ़ी माँ-दादी या जवान ननदों के पास खेल रहे होंगे।

इतने भाग्यशाली तो कम ही होते हैं जिनकी देख-भाल विशेष रूप से होती होगी।

जैसे ही बड़ी चौड़ी सड़क के पास से उनका रिक्शा गुजरा शैलेन्द्र ने कहा—'यह देखो कौन-सा सिनेमा है, डिलाईट, अभी-अभी सुधार हुआ है, यहाँ का एक ही शानदार एयर-कण्डीशण्ड सिनेमा है।'

और वाकई देखने में प्रभात को भी मात करनेवाली एक भव्य इमारत—नये ढंग की बनावट—एक चर्तुभुज के आकार की।

सुधा ने कहा—'सुना है पिक्चर भी बहुत शानदार है, फेरी।'

बातों ही बातों में वह स्थान बहुत पीछे छूट गया था जैसे रिक्शा समय की गति का प्रतीक हो, जहाँ रुकने-ठहरने का कोई काम ही नहीं। किन्तु सुधा के द्वारा प्रकट किया गया विचार इतना आसान भी तो नहीं था कि कोई ध्यान न देता।

शैलेन्द्र ने कहा—'फेरी पिक्चर आपने देखी है।' और बिना उत्तर की प्रतीक्षा में कहने लगा—'आज-कल कुछ ऐसी प्रवृत्ति लोगों की हो गई है, कुछ घटना हो जाये फिर उसके ही अनुसार पिक्चर खड़ी हो जाती है।'

हवा में उसकी बात साफ-साफ सुनाई नहीं पड़ रही थी और जब किसी ने उसके सम्बन्ध में कुछ सुना ही नहीं था तो फिर थोड़ी चुप्पी रही।

अब सूरज ढल चुका था। बिजली का प्रकाश बिखर उठा था, फिर भी यह तो सम्भव नहीं है कि प्राकृतिक सूर्य-रश्मि के मुकाबले पर बनावटी प्रकाश रख दिया जाय; किन्तु इस प्रकाश में जितनी चमक-दमक और निखार है, वह सर्वत्र व्यापक रश्मियों में कहाँ ?

एक बड़ी गोलदार जगह की चक्कर लेकर उनका रिक्शा क गया।

सुधा ने कहा—'देखिये यह है इण्डिया गेट !' एक विख्यात द्वार की ओर संकेत करते हुये उसने कहा—'बहुत पसन्द है !' जय ने उसका पूरा एक चक्कर ही लगा डाला। वास्तव में वह नयनाभिराम दृश्य था। एक विशाल द्वार के दोनों ओर हरे घास की उठने-बैठने खाने-पीने और मौज उड़ाने के लिये भूमि तथा थोड़ी दूर दोनों ओर दो रंगीन फव्वारे और फिर उन फव्वारों को भूमि वास्तव में बड़ी रमणीय है, और फिर नारी-पुरुषों के समूह, मोटर, सायकलों की भीड़-भाड़, चाय, खोमचेवालों की चलती-फिरती दुकानें, सब कुछ जैसे एक मेला हो !

'यहाँ आज कोई विशेष बात तो नहीं है ?' जय ने पूछा।

'भाई ! यह स्थान सन्ध्या के समय रोज ही ऐसा हो जाता है। यहाँ है वास्तविक दिल्ली और फिर प्रत्येक व्यक्ति दिल्ली का बादशाह। छोटा-बड़ा—कोई भी क्यों न हो सब उन्हीं छाबड़ीवालों की दूकान पर पालथी मार कर बैठ जाते हैं। दूर-दूर तक इस हरी दूब पर लोग आनन्द करते हैं, यह तो रोज़ ही होता है जय !' शैलेन्द्र ने एक साँस में सब कह डाला।

और जो कुछ जय ने सुना था, वह सच भी उसे दिखाई दिया। रंग-बिरंगी कितनी मोटरें आ कर खड़ी होती थीं, साहब-मेम, सरदार-सरदारनी, सेठ-सेठानी सब—कुछ बच्चों के साथ कुछ बिना बच्चों के मोटर से उतरते जाते और मोटरें बढ़ती जातीं। मोटरों को खड़े करने का स्थान पृथक् जो था।

जय ने पूछा—'क्यों शैलेन्द्र तुम्हारा भी सन्ध्या के बिताने का स्थान यही है ना ?' जैसे उसे मालूम हो कि इस तरह के जितने भी व्यक्ति हैं, जो मौज-बहारों में विश्वास करते हैं यहीं आते हैं, पर शलेन्द्र का उत्तर इतना आशाजनक नहीं था। उसने कहा—

'यहाँ मैं तीन वर्ष में कुल चार बार आया हूँ।'

और साथ ही सुधा ने कहा—

'और मैं तो यहीं पढ़-लिख कर बड़ी हुई हूँ पर याद नहीं दस-बीस बार से अधिक यहाँ आ कर सन्ध्या बिताई होगी।'

'तो क्या यहाँ ऐसे व्यक्ति कम ही हैं जो यहाँ रोज आते हैं। फिर भी यह भीड़-भाड़, यह आकर्षण। इसका यही मतलब है न कि यह स्थान यथार्थ में उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है।'

और वह रमणीय स्थान ! जय के सामने से दृश्य जैसे घूम गया हो, हरी-पीली रंग-बिरंगी शतधा उर्मियों से फेनिल लहराती हुई वह नहर नहीं, यमुना ! उन फव्वारों की वह रंगीन फुहार जैसे रंग में होली के समान रंग-बिरंगी फुहार !

और तब गोपिकाओं से घिरे कन्हाई का वह वंशी रव एक अनिर्वचनीय आनन्द। सकल लोक वृन्दावन धाम !.

तो क्या दिल्ली की यह लिपिस्टिक और पाउडरों से पुती, रंग-बिरंगे परिधानों से वेष्ठित, तन्वंगी नारियाँ गोपियाँ हैं और उसी सज-धज में उनकी साल सम्हाल में, रूठने मनाने में निपुण यह कृष्ण—चाहे सब इसी युग में क्यों न हों ?

जय को बात जँची नहीं। कहाँ द्वापर और कहाँ वर्तमान युग ? इस अन्तराल को तुलना के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता और गोपियों और कृष्ण की यह कल्पना आध्यात्मिक अधिक है। सामाजिक और राजनैतिक कृष्ण यथार्थ के कृष्ण थे उस युग के और ये तो हैं वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु के द्वारा स्थापित, एक ऐतिहासिक घटना की आध्यात्मिक पूर्ति। किन्तु कितनी हृदयस्पर्शी, लोगों के हृदयों में सैकड़ों वर्षों से निवास करते हैं। उनकी भावना को ही तो भगवान् की संज्ञा मिली है।

सुधा ने कहा—'आइये थोड़ा घूम तो लें। उधर हरी दूब गहरी और दूरी पर भी है।'

किन्तु शैलेन्द्र का प्रस्ताव था जय को यहाँ की चाट का रसास्वादन तो करा ही देना चाहिये। जैसे कुछ काम यथा स्थान ही प्रेरणा देते हैं। ऐसे स्थान पर पहिले से कुछ तय किया हुआ भी बदल देना पड़ता है फिर वहाँ तो केवल घूमने का ही मन्तव्य था।

जय ने इसमें कोई राय नहीं दी। खाने-पीने की बातों में राय देने जैसी बात उसे उचित समझ में नहीं आई। और ऐसी बात न थी कि वह वहीं चुप था। ऐसे प्रसंगों में वह सदा पीछे रह जाता था, उसके इस व्यवहार से होटलों के महाराज और नौकर-चाकर और यहाँ तक कि मालिक भी अत्यन्त प्रसन्न रहते थे। पर शायद इसीलिये वह उतना शरीर से स्वस्थ भी नहीं रह पाता था; कम से कम हट्टा-कट्टा तो नहीं।

फिर तय यह ही हुआ एक छाबड़ीवाले की दुकान के सामने जम जाया जाय। और जब शैलेन्द्र ने उसका हाथ पकड़ कर उसे जमीन पर बैठा ही दिया, तब उसने अनुभव किया कि वह बृज-भूमि में नही है, नई दिल्ली में है और इंडिया गेट के उस चलते-फिरते बाजार में है, जो केवल सायंकाल को भरता है और रात को ही समाप्त हो जाता है।

और ऐसे बाजार संसार में क्या कम हैं, जो निमित्त मात्र भरते हैं फिर जब बाजार बन जाता है तब जैसे उस क्रम में साथ देना प्रत्येक अक्लमन्द का काम बन जाता है; किन्तु रौनक देख कर जय भ्रम में पड़ गया—क्यों नहीं पड़ता, विभ्रम की बात जो थी। आँखों को सौन्दर्य चाहिये तो जिह्वा को आस्वाद! और सौन्दर्य का लोभी मनुष्य यदि आस्वाद की इच्छा प्रकट करे तब इसमें बुराई की क्या बात है? फिर वह सौन्दर्य देखने का अभ्यस्त हो जावे तब उसके आस्वादन की मात्रा बढ़ जावेगी वहीं शायद कम हो जाना चाहिये। बात समझ में नहीं आई, मनुष्य यदि सुख-दुःख, घृणा-प्रेम, पाप-पुण्य का पुतला है तो फिर यह स्थिति असाधारण नहीं है, इस पर कोई तर्क काम नहीं करेंगे।

जब चाट का एक दौर हो गया, तब दूर तक फैली उस हरी दूब पर बैठ कर विश्राम करने की बात चल पड़ी। वास्तव में वह दृश्य नयनाभिराम था, ऊपर काले पेड़ों की सूनी-सूनी-सी परछाईं जैसे कभी-कभी हृदय उस सूनेपन से घिर आता है और पास ही चकाचौंध। फिर कृत्रिम साधनों से बनाई गई वह निर्झरनी, उसमें वह अनेकानेक रंग! यदि यह सब मनुष्य न करे तो वह यहाँ जन्म क्यों लेता है—जय अपने आप से पूछा। और जब जन्म लेता है तब जो है उससे तादात्म्य न करे, उसके सुन्दर से मंगल और पुण्य खोजना प्रारम्भ कर दे? तभी वह दृष्टि परलोकवाली बनने लगती है। जैसे धरती पर कुछ उसका अपना नहीं होता उसका अपना दृष्टि-विन्दु दूर क्षितिज के उस पार होता हो, अनन्त शून्य में—वहाँ उसकी अपनी मान्यता के अनुकूल उसका त्राता बैठा रहता है, उस भगवान् का दरबार भी लगता है, न्याय भी होता है, और फिर नैतिक-अनैतिक धारणायें बन जाती हैं, रूढ़ और प्रगतिशील तरीके निकल आते हैं, व्यवहार पक्ष में मठ बन जाते हैं, मठाधीश भी, जैसे इन राजनैतिक मठों के मठाधीश होते हैं, ठीक वैसे ही!

किन्तु जय इस समाधान से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। संसार से बाहर कहीं कुछ है यह कल्पना ही कितनी निरर्थक है, और साधारण व्यक्ति की बात पृथक् है किन्तु जय बड़े दर्शनवादी इस बात को कहते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। यह सृष्टि सत्य है, सुन्दर भी है। चाहे सुन्दर हो या असुन्दर पर सत्य यही है, इसका विस्तार होता है, जड़ और चेतन इसके दो छोर हैं। चेतना जड़ के बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। उसी चित्ति का विराट रूप है, फिर इसमें माया कहाँ? और उससे छुटकारा कैसा? तभी उसके पास का आँखों का चौंधिया देनेवाला विद्युत-प्रकाश। वह हरिताभ मिश्रित लालिमा, वह कल-कल छल-छल करती निर्झरणी, और प्रकृति से पृथक् मांसल काम की कन्या, सब उसे प्रिय होना चाहिये। फिर सुधा का यह जीवन, यह योगदान, क्या उपहास या घृणा की वस्तु है?

अचानक ही जय क्या से क्या सोच गया ? तब जैसे उसे लगा वह उस सौन्दर्य का कहीं अपमान न कर रहा हो। मैदान में हरी दूब पर मीनार की ओर जाकर वे बैठ गये। श्रम का परिहार अपेक्षित भी था और शैलेन्द्र थक भी गया था। पर बातों के लिये थकान कहाँ ? भिन्न-भिन्न प्रकार की चर्चाएँ फूट पड़ी। 'प्रो० साहब गीत लिखते हैं, सुनाइये न कोई गीत।' 'हाँ-हाँ, लिखते हैं पर शायद सुनायेंगे नहीं, क्यों न भाई ?' 'नहीं, भाई, पहिले लिखता था पर अब नहीं, अब विचार भावों का साथ छोड़ने लगे हैं, वे शुष्क और नीरस हो चले है।'

तब बात लौट फिर कर सुधा के संगीत पर आ गई पर जय नहीं चाहता था, सुधा के मानस को पुनः करौंद दिया जावे।

फिर शैलेन्द्र जैसे वहाँ से कुछ समय के लिये चल पड़ा, पान लेन का बहाना उसे करना पड़ा, पर पता नहीं यह बात किसी को भी अच्छी क्यों न लगी ? और यह बात विशेष रूप से जय को अच्छी न लग सकी। तो क्या शैलेन्द्र मुझे और सुधा को एकान्त में छोड़ कर अपने मानस की धारणा को पुष्ट करना चाहता है, हाँ, तभी तो वह ऐसा अवसर पाते ही यहाँ से चल दिया। और क्या इसके पीछे इससे अधिक और रहस्य है—उसने एक क्षण सोचा फिर वह और गहराई में खो गया हो, जैसे सतह के ऊपर नहीं रहना चाहता। ऊपर की ऊर्मि तरंगों में थिरकन है पर मंथरता नहीं है, वे तो स्वयं किसी के लिये उद्वेलित हैं। उसे लगा लोग इस थिरकन को पकड़ना चाहते हैं, चाहते ही नहीं, चेष्टा भी करते हैं फिर सदा वह थिरकन उनकी मुट्ठी में रहे।

नहीं, वह थिरकन स्वयं किसी का संकेत है। बँधना उसकी क्रिया है। एक के पश्चात् अनेक तर्क उसके मस्तिष्क में घूम गये। उसने सुधा को अपने निकट क्यों आने दिया ? और क्या वह इस बात को किसी कठोर संकेत से नहीं कह सकता था। नारी के प्रति पुरुष का यह व्यवहार शायद उसे पहिली बार बहुत बुरा लगता होगा पर क्या भविष्य की मुक्ति के लिये यह सहज नहीं है। एक बार पुनः उसे स्मरण हुआ उसने सुधा का स्पर्श किया, उसके प्रेम के संकेत को अधरों

की मधुर स्वीकृति दी। क्यों दी? और यह गलत किया। जो घटना नहीं घट सकती थी वह घट गयी।

बहुत देर की चुप्पी को भंग करने का उपक्रम तब सुधा को करना पड़ा। पर उसे भी संकोच हो रहा था। यह बात नहीं थी कि स्वयं वह अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट थी। पर जैसे वह इन सब बातों पर सोचना नहीं चाहती थी। उसकी वह शक्ति एक लम्बी प्रतिक्रिया के पश्चात् समाप्त-सी हो रही थी और उसका एक चरम विश्लेषण वह कर लेना चाहती थी। इसमें क्या बुराई है, एक क्षण घटना की अनुभूति कर स्थिति में चेतना बनाये रखना क्या बुरा है और यह प्रेम तो नहीं हुआ?

फिर बात यहीं समाप्त न हुई। प्रेम, तब उसने जो किया क्या वही था। वह भी यही है, वह मांसल अधिक था और यह कम। उसके परिणाम का पूर्वारंभ तो शायद यही था, यही होता है। यह आदान-प्रदान पुराना है। लोगों ने पहिले पैतृक अधिकार के रूप में इसका उपयोग किया अब जैसे वह स्वयं उन पर हावी हो गया।

उसने बरबस अपनी सब बातों पर रोक लगा दी। फिर हरी दूब तोड़-तोड़ कर इधर उधर डालने लगी तब कहीं मौन भंग हुआ? 'यह स्थान आपको सुन्दर लगा, न।' जय कुछ चौंका। वह सोच रहा था वह एकाकी है कोई उसके साथ नहीं है—इसीलिये तो वह ऐसा है फिर उसे अपनी भूल स्वय ही समझ में आ गई।

उसने कहा—'हां, बहुत सुन्दर।'

'फिर आप दिल्ली में क्यों नहीं आ जाते?'

जय को उत्तर न सूझ रहा था और यह कैसा स्पष्ट प्रश्न सुधा ने किया। दिल्ली आने से क्या मैं वास्तव में अपनी उस स्थिति में नहीं आ जाऊँगा जिसे मैं छोड़ कर चला आया हूँ। यह भोग भी है और प्रेम भी। कहीं-कहीं दोनों मिले हुए हैं, या एक के लिये दूसरा है।

'देखिये, सुधा देवी! यह सब कुछ प्रत्येक के अधिकार में ही होता तो क्या बात थी?' वह मुस्कराने की चेष्टा कर रहा था।

तब क्या आप भाग्य को मानते हैं ? भाग्य की बात...'

'हाँ। सुधा देवी, आप शायद जिस रूप में भाग्य की परिभाषा करती हों वैसी मेरी आपको न भी प्रतीत हो। हम जो कुछ करते हैं वास्तव में वह हम नहीं करते। हमारे द्वारा कराया जाता है। तब यह कौन है जो इस मर्म के पीछे है। दर्शन के अतिरिक्त और कही इसका समाधान नहीं है।'

बात विस्मय के लिये तो थी ही। सुधा को आश्चर्य था यह सब क्या है ? भाग्य है तो जीवन उसी के आधीन है फिर इस सब कर्म की क्या आवश्यकता। पर व्यवहार इसकी पुष्टि नहीं करता तो यह नियतिवाद ठीक पलायान है पर बात जिस ढंग से चल रही थी, उसके अनुमान विपरीत थी। तब उसने प्रश्न बन्द कर दिये।

और जय को अनुभव हो रहा था, सुधा इस बात को समझी नहीं। समझेगी क्यों ? जो श्रम करता है, उसे क्या मिलता है ? और जिसे कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता उसका कितना अधिकार है। तब यह भेद क्या है, यह क्रिया जो इस भेद में अभेद का और अभेद में भेद का संगोपन करती है वह क्या है ? नहीं तो यह क्यों है ? इसकी आवश्यकता क्या ?

किन्तु यह क्रिया मर नहीं सकती। यदि मार ली जावे तब वह बोझ बन जावेगी। फिर समय उसे ठोकर मार कर पटक देगा ! इसलिये कर्म है क्योंकि फल से कर्म का निकट संबंध है, उसके पश्चात् भी फल तो अन्य मान्यताओं की प्रतीति हैं।

'यह विश्वास हेय नहीं है सुधा देवी, पर आज के शुष्क बुद्धिवादी को यह बात आसानी से समझ में न आयेगी वैसे तो यह बात इस आयु से संबंध हीं नहीं रखती...' फिर उसने बात को संक्षेप में समाप्त करना चाहा।

तब दूर पर शैलेन्द्र की आवाज सुनाई दी। उसके साथ और दो तीन व्यक्ति थे। सुधा और जय उठ खड़े हुए। शैलेन्द्र जैसे कुछ बोल ही न पाया। पर अब वहाँ से चलने का क्रम ही तो बन गया था।

शैलेन्द्र ने जय का ध्यान अपने मित्रों की ओर दिलाते हुए नाम, पता, ठिकाना बतला दिया; पर जय से ऐसा परिचय कदापि स्मरण की वस्तु नहीं है। जय का परिचय भी दिया गया और सुधा का भी। पर फिर भी उन व्यक्तियों की अज्ञात प्रश्न-दृष्टि यह पूछना चाह रही थी ——'यह देवी जी कौन हैं और तुम्हारा इनका क्या संबंध है ?

और तब उस समाज में शैलेन्द्र भी किंचित संकोच अनुभव कर रहा था, पर उसने अपनी संपूर्ण निर्बलता को अब जय के सुपुर्द कर दिया था जैसे जय से कहना चाह रहा हो, यह मेरी कौन है, वैसी ही है जैसे तुम हो ?

फिर वे इण्डिया गेट से चल दिये। पर क्या वह क्रम वहाँ समाप्त हुआ होगा। जय ने सोचा कभी कोई क्रम समाप्त नहीं होते, केवल उनमें व्यक्ति हो नहीं रहता। या कहो वह चेतना और ठीक उसी रूप में नही रहती इसीलिये इसका नाम बाजार पड़ गया। उसमें सामान तो होता ही है, खरीददार बदलते है, बस !

फिर थोड़ी दूर, सुनसान तो नहीं किन्तु साफ़ चक्करदार सड़कें, उन पर झूमते हुए वृक्ष, आलोक बिखेरती हुई विद्युत छटा और कहीं-कहीं दूर और पास चलनेवाले व्यक्ति एक वेग में बँधे, केवल बँधे ही नही खिचे बँधे। जय भी मोटर रिक्शा में अपने साथियों के साथ जा रहा था वह भी तो जैसे बँधा हो। पर उसने निर्मोह उतार फेंका था।

सुधा के साथ विशेष संबंध की कल्पना क्यों हो और विशेष की आवश्यकता क्यों ? तब यह संबंध गहरा न हो कर चौड़ा और फैला हुआ होगा, दूर-दूर तक। एकाकी न हो कर सब का होगा। वह प्रेम व्यक्ति का न होकर लोक का होगा, पर व्यक्ति और समष्टि की लक्ष्मण रेखा कौन खींचेगा ? क्यों खींचेगा ?

जय को एक धक्का लगा——मोटर-रिक्शा एक घटना से बाल-बाल बच गया था, उसका चालक बड़े जोर से कह उठा——'साले मरने को फिरते हैं। कहीं और जगह नहीं मिलती तो हमारे ही सामने आ गये।' और फिर जाने क्या बड़बड़ाता रहा।

उसका विचार-तन्तु टूट गया। पर कितना गहरा होता है मनुष्य का यह सोचना। यदि सोचना प्रारंभ कर दे तो उसका कोई अन्त भी है? आगत, विगत, काल्पनिक सत्य सब सोचा जावेगा। समाज और व्यक्ति। ठोस और बनावटी सब उसकी आँखों के सामने से निकलेंगे।

वह जितना भी सोचता, उतना ही गहरा घुसता जा रहा था। आत्म-प्रतारणा से उसका हृदय दबा जा रहा था। एक ग्लानि उसे दबोच रही थी, जैसे वह घटना के पश्चात् का अवसाद हो। घटना के पश्चात् घटना के विषय में यदि सोचो तो वह सब कितना अप्रिय लगता है, इसलिये शायद लोग नही सोच सकते। सोचते ही नहीं हैं।

आज व्यक्ति सोचता है, उसका जीवन कितना छोटा है, अल्प-आयु में सब भोग भोग ले, आदमी रहें या बदल जायें, वह जब तक न बदले तब तक उसे अपनी पूर्णता के उपकरण जुटाना चाहिये। इसमें पुरुष और नारी का वर्ग अपेक्षित नहीं है। चाहे पुरुष और चाहे नारी दोनों आज पूर्णता चाहते हैं, कहीं तो विराम नहीं है। कहीं नीहारिका-लोक में बैठकर क्षण भर विश्राम करने की बात भले हो, पर उत्सर्ग करते हुए इस मंथरता का निर्वाह आज नहीं है। प्रत्येक में अभाव है। अपना अभाव उसे विश्व की समस्या से, जीवन और मरण की समस्या से बड़ा लग रहा है, तभी पुरुष ने नारी के विषय में कितनी ही अज्ञात धारणायें बना ली हैं और नारी ने पुरुष के प्रति। नारी, प्रताड़ित की रही है। इसीलिये उसमें यह प्रतिक्रिया अधिक है। उसके प्रति सहानभूति भी लोगों में है, मानव के प्रति उतनी नहीं है।

किन्तु यहाँ इसका अन्त नहीं है।

अविश्वास, भोग और तृप्ति के लिये धन की सफेद चादर प्रत्येक को चाहिये, मान-मर्यादा का कंकाल उसमें छिपा रहता है, सामाजिक वीभत्सता उसमें विद्रूप हँसी हँसती रहती है; किन्तु जैसे सब कुछ जादूगर की लम्बी-चौड़ी वाक्यावली और आँख का खेल ही है। लोगों को दिखते हुए भी नहीं दिखता। कहना चाहते हैं, पर जब बोलते हैं तो उसी बोली में। समाज इन संस्थाओं को—परिवारों को सजाना चाहता है। व्यवस्था

उसी की दुहाई देती है। लेखक उसी की प्रशस्ति गाते हैं और धर्म उसी का जयकार। तब व्यक्ति यह चाहता है—करता है तो इसमें किसी बुराई की आशंका क्यों होना चाहिये? वह ध्वंस तो नहीं करता कम से कम; वहाँ ध्वंस अपेक्षित नहीं है।

यह मौन कभी-कभी व्यक्ति को दूरी पर ले जा कर खड़ा कर देता है, ऐसी दूरी—जहाँ खाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। सुधा समझ रही थी, जय ने यह दूरी अपना ली है, जैसे वह अपनी ज्वाला में जल रहा हो, पर उसे फिर भी उसकी शालीनता प्रिय लग रही थी। मोड़ पर मोड़ छोड़ती मोटर-रिक्शा उन्हें लिये जा रही थी। प्रारंभ का वह हास्य-विनोद अब नहीं रह पाया।

'अब आप कल नहीं जा रहे?'—उसने पूछा।

'हूँ, हाँ हाँ, अभी तक तो कोई निश्चय न हो सका।'

'नहीं जायेंगे'—शैलेन्द्र ने अधिकारपूर्वक कहा।

'अभी तो यह बात तय नहीं हो रही'—जय बोला—'अभी रात भर सोचूँगा और यदि प्रातः चल दिया तो अब शायद भेंट न हो और रहा तो विश्वास है फिर मिलेंगे।'

रात के साढ़े नौ बज रहे थे जब सुधा घर लौटी। पर घर भी उसे सुनसान दिखाई दिया। भाई अभी नहीं लौटे थे। वह बहुत थक गई थी। उसने अपनी थकान—रोज से पृथक् मालूम की केवल मांसलता वहाँ नहीं थी। शरीर तो आत्मा और मन की अभिव्यक्ति है फिर थकान उसके मन की थी, जो शरीर पर हो छा रही थी।

अपना घर सुधा को पता नहीं क्यों सुबह से बदला-सा लग रहा था? वह बैठक, वे उसकी तस्वीरें, वह आत्मीय सजावट! सबको आज क्या हो गया? वैसे परिवर्तन शायद कुछ न हो, पर वह उमंग वह ललक उसे वहाँ न दिखाई दी। स्नेह की वह धारा प्राणों के विराम में क्यों सूख गई। वह हरियाली कहाँ, वह चन्द्र-छवि, वह मोतियों की बरसात, वह कलियों का चटखना!

उसने बत्ती जलाई और वैसे ही ऊपर चली गई। खुले आकाश में वहाँ शुभ्र छटा अपने पूर्ण यौवन पर थी। दूध-सी धोई चाँदनी अपनी शीतलता संसार में बिखेर रही थी। पर सुधा को जैसे वह शीतलता किसी उष्णता का संकेत थी। वह कुछ टहलती रही, फिर पलंग पर जा बैठी।

'कैसे भुलाई जा सकती है घटना--और लोग कैसे होते हैं जो भुला देते हैं! सब क्रिया जुड़ी हुई है उसी से।'--उसने सोचा। 'मैंने प्रोफेसर साहब को कब जाना और समझा पर यह तन कैसा है, इसकी चुम्बक-शक्ति क्या किसी से कम है?'

फिर उसके सामने गहरा अन्धकार छा गया, ऐसा जैसे तूफान आने के पहिले कभी-कभी छा जाता है। पीड़ा घनीभूत होने लगी, स्मृतियों की बिजली ने उसे झकझोर डाला। उसे रोक-टोक स्वीकार नहीं है। थोड़ी-सी लोक-लाज भाई की है, नहीं तो क्या वह वास्तव में जीवन भर ईमानदार नैतिक जीवन बिता पाई है? बाल्यावस्था से ले कर किशोर अवस्था तक जिस उनींदी पलकों से संसार को देखा, पता नहीं संसार ने क्या समझा; पर उसने संसार को समझा नहीं, संसार के खेल खेले। जैसे उस उनींदे-पन में खेलने का ही संकल्प तो था।

'तब अपने सौन्दर्य का ज्ञान मुझे था--भ्रमरों के गूँजने का शब्द मैं सुनती और मन में हँस कर चल देती अपनी सहज मुद्रा में। मन का वह साम्य, हृदय की वह आर्द्रता क्यों बनी रही, कभी किसी के प्रति कम तो कभी अधिक। आँखों को चकाचौंध अधिक दिनों न रही, फिर व्यवहार उसे पृथक् समझ में आया, कितना विपरीत? सुख जितना कल्पना करने में आनन्ददायी है, प्रेम जितना संकल्प की धरती बनाने में सहायक है, उतना ही व्यवहार--सजग करने वाली, कर्कश, तीखी और कटु ध्वनि है। पर है तो वह भी। सुधा ने प्रेम किया, नहीं...प्रेम की भूमि के उपकरण जुटाये, तब कौन कहाँ बँध गया, सुख की कल्पना की ही थी कि व्यवहार की चोख ने उसके परदे फाड़ डाले। पर फिर मन हरा-भरा क्यों होना चाहता है। क्या सरिता सूखने के बाद फिर सरस होती है?

'होती तो है'--उसने धीरे-से कहा--'और क्यों न हो, जो नहीं होती, वह क्या सही होती है। जब बंधन नहीं है, तो इसीलिये न कि मुक्ति है, और प्रेम क्या अनुभव नही है? फिर उसने अपने बायें हाथ की उँगली से लट को पीछे कर लिया।

तब चन्द्रमा से कितनी बातें उसने न कीं। कुछ सार्थक और कुछ निरर्थक। मन हल्का उसे लगा। जैसे बोझ उसने उतार कर फेंक दिया हो। अपना ही बोझ लिये तो प्राणी घूमता है, द्वन्द्व उसी का अपना है। संकल्प-विकल्प का वह अनुचर हो जाता है--तब लगता है, दुनिया बुरी है, माया है, छोड़ने की वस्तु है; किन्तु वह छोड़ता नहीं है, वहीं से मुड़ जाता है। अतिक्रमण में पराजय निश्चित है। वह पराजय क्यों चाहेगी?

और इतना संघर्ष उसे निरर्थक लगा। एक छोटे-से निश्चय ने उसके वर्षों के द्वन्द्व को समाप्त कर दिया। उसने कहा--'मैंने कुछ बुरा नहीं किया, और बुराई इसमें क्या है? यहाँ घटना सत्य कहाँ है? फिर प्रोफेसर साहब के निकट के क्षण उसे ऐसे लगे जैसे और निकट हों, बिल्कुल निकट। वह एकाकी कहाँ थी? किसी की सहृदयता उसके साथ थी। वह उसी में डूब गई।

प्रकृति भी कैसी है, मनोरम! हृदय के साथ घटने-बढ़ने वाली--जैसे उसका अपना कुछ सुन्दर-असुन्दर नहीं है। वह दूसरे के अनुकूल ही रहना चाहती है। विरह-विदग्ध मन के लिये वही जलाने वाली और प्रणयी के लिये यौवन से परिपूर्ण। जैसे न विरह उसका है और न मिलन। संसार का सुन्दर रहस्य यहाँ है। जिसमें घना अन्धकार भी है, प्रदीप्त उजेला भी। जहाँ पुष्प मुस्कराते हैं पर काँटे भी हैं, भ्रमर के ढोल भी कहीं छिपे अपनी ताक में बैठे ही रहते हैं। पराग की गंध गंधहीन वायु की प्राणदायिनी बना देती है! तब? और फिर प्रकृति की इस क्रिया में विराम नहीं है। विराम चाहिये क्यों? विराम लगा कि महा-विराम का एक झटका सब खेल बदल सकता है, जिससे इतना स्नेह उसी के प्रति इतनी निर्मम है यह प्रवृत्ति! जिसके लिये अपना हृदय खोला, उसी

के लिये सदैव को द्वार बन्द। जैसे वह निमित्त हो। पुरुष और प्रकृति एक-दूसरे के अनुवर, सिर्फ एक रहस्य !

●

नौ ...

जब शैलेन्द्र और जय घर पहुँचे, तब जय के नाम दो पत्र उसने अपने लेटर-बक्स में पाये। दोनों लिफाफे कुछ भारी थे। एक सीधा उसी के द्वारा और दूसरा घूम-फिर कर आया था। पूना से पता काट-कर किसी सज्जन ने लिख दिया था। जय कुछ थका तो अवश्य था, पर पत्रों की आकृति देख कर वह भेजनेवाले का अनुमान लगा रहा था। अनुमान क्या, उसका ही विचार सत्य था। एक पत्र उसकी पत्नी का था, जो सीधा वहीं के पते पर डाला गया था और दूसरा राधा का।

भोजन और विश्राम के पूर्व उन लम्बे पत्रों का पढ़ना जय को शायद अच्छा लगता, पर शैलेन्द्र को नहीं, इसलिये जय ने केवल भेजने वाले के हस्ताक्षर पढ़ कर ही रख लिये।

और जब बिस्तर पर लेटने के पहिले उसने अपनी डायरी निकाली तभी पत्र भी खोल लिये। पहिला पत्र उसने रानी का पढ़ा—जैसा हमेशा वह लिखती है, वैसा ही उसने लिखा था—

ग्राम मधवापुर,
८ मई

पूज्य स्वामी,

चरण स्पर्श। आपका पत्र मिला। अनुमान से ही यह पत्र आपको लिख रही हूँ, शायद आप दो दिन तो दिल्ली ठहरेंगे ही, क्यों कि पत्र से आभास हुआ, आपने अभी भी कुछ निश्चय नहीं किया है। इसकी शिकायत मैं आपसे नहीं करूँगी, आप निश्चय करें या न करें। पर कभी-कभी सोचती हूँ कि यह अनिश्चित और अनिर्दिष्ट जीवन जैसा आपका है, वैसा सबका तो नहीं है। क्यों नहीं न उनका ?

और जैसा आप मानते हैं, जीवन अग्नि की चमक के समान क्षणिक और क्षणभंगुर है; किन्तु ज्योति का प्रतिनिधि है, फिर उसमें जड़ता और बन्धन कहाँ, केवल अपनी ही कालिमा से उस पर कोई कालिख भले लगा दे। पर आप यह क्यों नहीं मानते कि दूसरा जीवन भी जड़ता का नहीं, ज्योति का जीवन है। यह बात आपको इतने शीघ्र समझ में शायद न आये पर यदि आप नारी होते तब समझ लेते। बंधन से पुरुष क्यों भागता है, नारी बंधन की ओर दोड़ती है? इसका रहस्य आपने कई बार लिखा है, मैं क्या लिखूँ पर यह जानती हूं, बंधन ही जीवन है। मुक्ति या पलायन जीवन नहीं है, और कुछ भले हो। और आप जब कुछ सोचते हैं तब बंधकर क्यों नहीं सोचते, मुक्त हो कर क्यों सोचते हैं। अपने-आप के प्रति इतने निरीह क्यों है?

आपने लिखा है, इच्छा कुछ नहीं है, उसका न होना उसके नकारात्मक अस्तित्व की घोषणा है। इसलिये आपने कर्म की घोषणा कर डाली। पर क्या इच्छा के बिना कर्म हो सकता है, और केवल इच्छा और कर्म ही नहीं ज्ञान भी चाहिये ही--तब यह विराग केवल इसलिये है ना कि जीवन के यथार्थ को आप स्वीकार नहीं करना चाहते। शायद आपका यह अनुमान सही हो--यथार्थ बड़ा कटु है, भयंकर भी हो सकता है इसलिये भी कि आपने अपनी तीक्ष्ण अन्वेक्षिणी बुद्धि के द्वारा इस यथार्थ को बहुत देखा हो, परखा हो। मुझमें इतनी बुद्धि कहाँ है, और जो कहना चाह रही हूँ, पता नहीं स्पष्ट भी कर सकी हूँ या वैसा ही अटपटा लिख गई। आपसे बनने और छिपने की कोई बात ही नहीं है।

आप की करुणा और दया की बात पर मुझे ईर्ष्या है। क्यों नहीं दूसरे के लिये उसको रंचमात्र छोड़ना चाहते? और इसलिये सारे संसार की पीड़ा को लिखते हो। मैंने पहले भी लिखा था--ऐसी पीड़ा क्यों लिखते हो? आज भी वही सब पाती हूँ। और जब आपके दर्शन होते हैं तब भी उसकी छाया मुझे मिल जाती है। घरवालों को शायद इसका आभास न हो पर आपके स्नेह ने मुझे आपके रहस्यों तक पहुँचने

का अधिकार दिया है, नहीं तो मेरी क्या बिसात! मैं आपकी बातों को अपने पत्रों में ऐसे उतार हूँ जैसे मेरी अपनी हों।

आपने लिखा है मैं पहाड़ों से घूम कर लौटता हुआ पूना पहुँचूँगा पर यह नहीं लिखा, जो शान्ति आपको चाहिये वह वहीं क्यों कर मिल सकती है? आप किसी सत्य से भयभीत क्यों हैं या किसी काल्पनिक झूठ से परेशान हैं? और जब आप ही इन दोनों को नहीं मानते। दुनिया में रहते हुए, देखते-भालते कोई उसकी सत्ता से इन्कार करे—इससे बड़ा झूठ और क्या हो सकता है और इससे अधिक सत्य और दूसरा कोई नहीं है कि सत्ता के विषय में किसी को कुछ ठीक-ठीक मालूम ही न हो। जो इसे जैसा समझ ले। तभी तो आपके विचारों में मैं मध्ययुगीन भक्ति और अंध श्रद्धा युग की हूँ और इतना पढ़ने-लिखने के पश्चात् भी अपढ़ हूँ। आपके पत्र पढ़ते-पढ़ते मेरा ज्ञान अज्ञान और श्रद्धा में बदलने लगता है। ऐसा क्यों होता है, मुझे भी नहीं मालूम पर होता निश्चित है, नहीं तो दो ज्ञानी मिले कैसे? ये सब बातें केवल आपको ही लिख पाती हूँ, इतनी खुल जो गई हूँ—पर देखो कहीं अपने अज्ञानी भक्त की किसी बात से रुष्ट न हो जाना।

दिन ढल जाते हैं और रातें फिर सुबह ले आती हैं, मेरे अज्ञात मानस में यह विश्वास जाने क्यों है कि आप पहाड़ नहीं जावेंगे—आप यहीं आवेंगे। परीक्षा लेना चाह रही थी पर तुम्हारी कैसी परीक्षा? जो अभी तक कभी पराजित होने की बात स्वीकार नहीं करते, वे इस बात में कैसे हारेंगे? और मेरा विश्वास है, आपने किसी बात का कोई अंश मुझे बताया है, कुछ नहीं, इसलिये इतनी उद्विग्नता शायद हो, यदि अद्वैत समझ कर कुछ और बतलाया तब द्वन्द्व मिट जावेगा। मेरे मन का नहीं, आपके मन का। मैं तो आपसे कह चुकी हूँ यदि आपके प्रति अनेक की आसक्ति है या कोई आसक्त नहीं है, मुझे क्या? मेरी आसक्ति है या नहीं, मालूम नहीं। पर मेरा धर्म अवश्य है, वही कर्त्तव्य और कर्म भी संज्ञा से बँधा हुआ है, आपने जो मुझे प्रारंभ से दिया, अपने कर्त्तव्य से कभी विचलित तो मैं नहीं हुई और न हो सकती हूँ। आपको घर

की रुढ़ि व्यवस्था से चिढ़ है, मुझे ही प्यार है ऐसा नहीं है, किन्तु उसे सिवाय मैं अव्यवस्था में बदल दूँ और कुछ नहीं कर सकती। और कहीं तो बंधन मानना पड़ेगा ही। माता जो कुछ कुछ आपकी बात समझती हैं—कभी-कभी सहज रूप से उनके मुँह से निकल जाता है—बेटा, तूने उस संन्यासी को बाँध लिया नहीं तो पता नहीं कब का वह बाबा हो गया होता। उन्हें विश्वास है आप गृहस्थ हो गये हैं, क्या मैं भी विश्वास कर सकती हूँ ?

पिताजी नये मकान की प्रतिष्ठा कराना चाहते हैं। और जब आप आवेंगे तभी वह होगी। मैंने कह दिया है आप आगामी १५ दिन में आ जावेंगे, और तभी वह सम्पन्न होगा। फिर या तो आप गाँव में रह कर यहाँ की देखभाल करेंगे या मैं ही आपके साथ पूना चलूँगी। यही कुछ निश्चित है।

आप सोच रहे होंगे कैसी स्त्री है, मेरे से कुछ पूछा नहीं और सब निश्चय कर लिया। आप कौन-सी बात मुझसे पूछते हैं, आप पहिले कुछ निश्चित कर लेते हैं, फिर तर्क के द्वारा उसकी पुष्टि कर लेते हैं, मैंने भी अब ऐसा ही सोचा है। किन्तु यह बात अवश्य है, मेरा इसमें कुछ स्वार्थ नहीं, अगर स्वार्थ लगे मुझसे कह देना, मैं अपना अस्तित्व ही मिटा सकती हूँ। मुन्ने की ओर से मैं चरण-स्पर्श लिख रही हूँ, वह तो अभी भगवान् की मूर्ति है, है अवश्य हमलोगों में। सब आशीष कहते हैं। पत्र देंगे। मुझे न दें तो भी कोई बात नहीं, पिता जी को अवश्य दें।

सहभागिनी

रानी

पुनश्च :

राधा रानी का पत्र अभी आया है, आपका पता पूछा है, क्या उन्हें भी पत्र नहीं लिखा ? वैसे वे सबलोग कुशल हैं। कम से कम जो कुशल समाचार चाहते हैं उन्हें कभी-कभी पत्र लिखने में कौन-सी बड़ी आफत

आपको लगती है। राधा ने लिखा है, वह लखनऊ जावेगी, जब तक शायद आप भी वहाँ होंगे।

रानी

जय ने पत्र को एक-दो बार पलटा, फिर जैसे अपने आप ही उसे हँसी आ गई हो, वह बड़ी जोर से हँस पड़ा, तब शैलेन्द्र से न रहा गया उसने पूछ ही लिया--

'ऐसा क्या भाभी ने लिख दिया है और चिट्ठी की मार भी तो बड़ी लम्बी मालूम पड़ती है।'

'लम्बी तो क्या, ऐसा ही पत्र लिखने की श्रीमतीजी की आदत है शैलेन्द्र, पर इन दिनों फिलासॉफी खूब पढ़ी मालूम देती है या कहो पुरानी चिट्ठियाँ ये स्त्रियाँ खूब सहेज कर रखती हैं, बस चिट्ठी पुराने उद्धरणों से भरी पड़ी है।

शैलेन्द्र पूछना तो चाहता था--क्या लिखा है ऐसा, पर पूछा नहीं और जय को समझ में नहीं आ रहा था वह क्या बताये। ऐसा उसमें क्या था? यही न रानी ने कुछ अपनी मान्यतायें मेरे विषय में बना ली हैं तभी ऐसा लिखती है, पर बात कुछ ऐसी नहीं है। क्षण दो क्षण का सामंजस्य संसार के प्रत्येक प्राणी से ही हो सकता है, पर यह सामंजस्य इतना मधुर और स्थायी है कि दूसरे मर्मभेदी घाव को भी भुला सकता है और यह घाव मेरा ही केवल होता तो बात दूसरी है। किसी निर्मल जल-धारा का स्रोत संसार के व्यवस्था-चक्र में झुलस जाये और वह राहगीर जिसने कभी दूर से उस हरे प्रदेश की स्रोतस्विनी की निर्मलता को देखा भर हो और किसी एक-सी निर्मलता से बँधे वे दो हृदय स्रोत। जब एक सूख जावे, सूख नहीं जावे, स्वयं सुखा लेना पड़े, तब किसका क्या दोष है? रानी समझत है! मुझे संसार प्रिय ही नहीं है, यह बात उसकी कितनी गलती है। मुझे ससार प्रिय है इसीलिये तो मैं उसके विषय में अधिक जानना चाहता हूँ। इससे बाहर मैं नहीं हूँ। और यही देखने में भटका दिया। इसीलिये ना कि संसार मुझे गहराई से अपनी ओर खींचता है और रानी का अधिकार इसके ऊपर है, उसने

मेरे आने की सहमति पिता जी को दी है। मैं उसकी बात क्यों टालूँ, किसी की बात क्यों टालूँ ?

थोड़ी देर में शैलेन्द्र नींद के खर्राटे भरने लगा, पर जय को नींद कहाँ ? उसने रानी की चिट्ठी लिफाफे में बन्द करके रख दी और फिर दूसरा लिफाफा खोल लिया।

कुछ अप्रत्याशित कौतूहल उसे था, कौतूहल क्या, एक प्रवेग-सा पत्र में था। यह पत्र राधा का उसके नाम जीवन में पहिला पत्र था, रानी के नाम के पत्र तो उसने देखे थे पर उनमें क्या, साधारण औपचारिकता, कुशल क्षेम। वैसे राधा उससे मुँह खोल बोली नहीं, देखती भर रही होगी, बड़ी-बड़ी काली-काली आँखों से, बोलने से ही क्या होता है और बोले या न बोले पर भाव का संबंध अभिव्यक्ति के प्रकार से अधिक है। उसका गहरापन जो प्राणों तक पहुँचता है, शरीर के किसी अंग पर उसका ठहरना कोई मतलब नहीं रखता। कानों को हृदय की बातों का क्या पता ?

उसने पत्र खोल लिया। इतना बड़ा पत्र, और इतने सुन्दर अक्षरों में ! जैसे राधा को लिखने में अपना बहुत-सा समय बिताना पड़ा हो। उसने पहिले एक-दो बार पत्र को पलटा फिर पढ़ना प्रारम्भ किया—

३० अप्रैल

पूज्य,

प्रणाम। पत्र पाकर आश्चर्य होगा। मुझे स्वयं पर भी आश्चर्य हो रहा है किन्तु जब मुझे ऐसा अनुभव हुआ परामर्श के बिना किसी अनिर्दिष्ट मार्ग की ओर मुझे न चल देना पड़े तब मैंने अपने-आप से कुछ पूछना चाहा। पर क्या मुझे उत्तर मिल सका ? उत्तर क्यों मिलता। उत्तर विकल्प है, आपके अनुसार तो प्रश्न भी विकल्प है फिर जरा-सी बात के लिये इतना कष्ट क्यों ? मुझे कष्ट क्या होगा, यदि किसी को मेरे विकल्प में पीड़ा होगी तो आपको। इसीलिये आपको संबोधित किया हुआ पत्र मेरा अपना ही संबोधन समझिये। परेशानी शायद आपको न

हो, संसार किसी के अस्तित्व भर से परेशान है, क्या अस्तित्व के ही सब झगड़े हैं ?

और जब पत्र लिखना प्रारंभ ही कर दिया तब इसका ओर-छोर न देखिये। इतने दिन चुप जो रही हूँ। यह चुप्पी श्वास बन्द कर देगी। अच्छा है, एक बार अपार्थिव होकर देख लूँ, जैसी देखने की आदत पड़ गई है। याद है ना ? कितनी बार आप स्वर्ग से धरती पर मुझे ले आये थे, और कोई ऐसा नहीं कर सकता था। इतना अधिकार मैं किसी और को नहीं दे सकती। इतनी कंजूस जो हूँ। और जब स्वर्ग के खण्डहर में झाँक मेरा मन धरती पर आ गया, तब आपने तो प्रयत्न किये ही और अनेक के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने कृपा कोर की रस-वृष्टि कर डाली। किन्तु किसी के मनोनीत प्रसाद को मिटा कर छोड़ने की जिद संसारियों की क्यों है, यह कोई समझा न सका। आप कहते हैं—सृष्टि सत्य है, सुन्दर है। शिव का पार्थिव रूप ही तो है, चित्त की काया बस ! और इसीलिये सब ओर आनन्द ही आनन्द है। है न आनन्द। फिर व्यक्ति इतने भयभीत क्यों दिखाई पड़ते हैं, क्यों कुछ करने पर उतर आये सब जैसे उन्हें अपनी सत्ता पर बिश्वास ही न हो, जैसे कोई धन-कुबेर दूसरे के द्वार पर भीख का कटोरा लिये खड़ा हो। है न यह अज्ञान !

आप सोच रहे होंगे कितनी अपढ़ राधा और कैसी वाचाल लेखनी। सच बताऊँ सब कुछ मैं नहीं लिख रही। कोई कहता है, मैं लिख देती हूँ। किसी ने वाणी का अधिकार छीन लिया, पर प्राणों का स्वर कोई न रोक सका। इसीलिये ये बहकी-बहकी बातें हैं। पहिले मुझे सब लिख लेने दो फिर मतलब की बात लिखूँगी। प्रत्येक इकाई अपने स्वार्थ में घिरी बंधी है, इसीलिये 'मतलब' की बात लिखी है। मेरा स्वार्थ आपसे छिपा नहीं है।

आज चाँदनी रात है। पूर्णिमा है। दूध-सी धोई चाँदनी दुनिया भर में ऐसे छा गई है जैसे किसी प्रपात से श्वेत धवल चाँदी बरस रही हो। नहीं, मानों किसी ने मोंगरे के फूलों से पृथ्वी को ढक दिया हो।

इतनी शीतल और मधुर सुधा बरस रही है ! पर एक बात मेरे मन को संतोष नहीं दे सकती । कवियों ने लिखा है विरह में—वियोग की पीड़ा में—प्रकृति का माधुर्य भयानक लगता है, बिल्कुल विपरीत । मुझे ऐसा नहीं लगता । आप कहेंगे वह बच्चों जैसी बात मैंने पूछी न ? किन्तु सच, आपके सामने जब एक बार किसी बात को स्वीकार कर लिया, तब फिर अब छिपाते नहीं बनता । पहिले जिसे वर्षों तक छिपाये रही । अब किसी अस्तित्व के ऊपर नास्ति का डंका मैं नहीं बजाना चाहती, आप इसे शायद स्वीकार न करें । इसलिये विदग्ध हृदय को प्रकृति और जलाने में असमर्थ है, यही आपकी बात मैं मान कर रह जाती हूँ । ऐसा जल गया हृदय जैसे राख ही न हो या फिर विदग्ध है कहाँ ? वियोग कैसा, द्वैत क्यों ? शरीर की दूरी तो रहेगी ही, इसीलिये तो माटी का यह ढाँचा है, फिर आत्मा के लिये ये बाह्य उपकरण क्या कोई प्रतिबंध लगा सके हैं ? यह स्वीकारोक्ति ऐलान करने की वस्तु मैंने नहीं बनाई । आप बता सकते हैं, ऐसा क्यों किया ? मेरा विश्वास है प्रेम की पूर्णता में किसी अन्य के लिये स्थान शेष ही नहीं रहता था या कहो वहाँ केवल रिक्तता रहती है, जिसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती । आपका आनन्द क्या यह नहीं हुआ ? बहुत दिनों से इस बात को संजोये हुए थी ।

लगभग दो वर्ष हुए आप यहाँ से चले गये, और मुझे ऐसा भास हुआ आप जाना नहीं चाहते थे; पर मेरे हित में आपको चला जाना चाहिये था । पता नहीं आप क्या सोचते होंगे ? मेरा हित मेरे न होने में है उसकी स्वीकृति भी तो आप नहीं देना चाहते । आपके आगे मैं कुछ भी लिखने का साहस आज कैसे कर पा रही हूँ ? आप ने वास्तव में मुझे अपना सब कुछ दान नहीं कर दिया, फिर उसके संचित पुण्य से भी कोई मुझे पृथक् कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता ।

मैंने किसी दिन आपसे कहा था, अपने जीवन के अधिकतम घण्टे आपसे बातें करके बिता दिये तब आपने व्यंय का संबोधन ही पर्याप्त समझा था । वह कुछ झूठ मैंने नहीं कहा था । मैं इतनी किसी से भी बर में खुल न सकी। मैं जानती हूँ आपके जीवन का उद्देश्य है, महान् ही

मानती हूँ उसे, इसीलिये यह भास नहीं होने देना चाहती। जीवन का उद्देश्य अपना-अपना अलग है। किन्तु जीवन एक है न, मैंने जाने अजजाने वही पा लिया जो जीवन भर में प्राणी नहीं पा सकते, वह मेरे पास है, इसलिये निश्चिन्त हूँ।

और जब आपने बहुत पूछा, तब इच्छा न होते हुए भी जो बात प्रकट हो गई उसके लिये आप परेशान क्यों हो गये? मैंने यह देखा भी। क्या आप इसे अपराध समझते हैं? अपराध यह क्यों है! यह तो चेतन के अस्तित्व की घोषणा है, वहाँ स्थूल तो कुछ नहीं है न, और इसीलिये जब आपको देखकर या आपसे मिल कर, समाज आपके विषय में जानना चाहता था तब मैंने उन्हें क्या कह कर विदा किया—आप जानते हैं? आप कर्म की आदर्श प्रतिमा हैं ऐसे लोग विरले ही होते हैं। यह बात आपको मैं बताना भूल गई, आप निश्चित साधारण नहीं हैं, आपने अपने को ऐसा क्यों समझ लिया है? दुनिया कितनी ओछी है, जिस दिन आप जान पायेंगे उस दिन आपको कितना कष्ट होगा इसका अनुमान मुझे है।

इसलिये जब आप साधारण से साधारण बात के लिये जुट जाते हैं तब मैं कहना चाहती हूँ, इतना श्रम क्यों करते हैं आप? आपका जीवन इस प्रकार गँवा देने के लिये नहीं है; पर क्या करूँ! मेरी ऐसी भी तो स्थिति नहीं है कि मन चाहा कर सकूँ। क्या आप इसका दूसरा अर्थ तो न लगा लेंगे?

हाँ, तो कभी-कभी बीच में आपके पत्र आये। बाबूजी ने मुझे आदेश दिया मैं आपको घर की कुशलता का समाचार दूँ, पर मैंने उत्तर नहीं दिया। आपके किसी पत्र का उत्तर आपको नहीं मिला होगा—और आपका शायद अनुमान हो कि स्नेह एक धोखा है, धोखा ही नहीं नाटक है—वही इसके लिये अधिक उपयुक्त शब्द है। पर वास्तव में यह तो मेरी कल्पना ही है। आपके लिये मैं कौन-सा विशेषण उपयोग में लाऊँ। समझ में नहीं आ रहा है। शब्द मेरे पास नहीं है पर यह सब प्रकट करने से कलुषित हो जावेगा यह मेरी मान्यता आज तक भी है,

किन्तु इस पत्र की बात पृथक् है, मुझे यह पत्र बाबूजी के आदेश पर लिखना पड़ रहा है।

आपसे एक दिन बहस हो रही थी भाई की, आपने कहा था—'जो अपना है, उसे अपना कहना अपनी ही बात का पिष्टपेषण है। जो अपना है उससे दूर और पास रहने की क्या बात? वह दूर हैं तब भी पास है और जब पास है तब क्या कहना? आपने सोचा, किसी को कहने के लिये कुछ न रहे इसलिये अपना अस्तित्व भी यहाँ से मिटा लिया। मैंने बहुत सोचा। आपकी बात सोची पर काँच की भाँति रश्मि और गहरी होती गई। यह दूरी अच्छी रही। मैंने इसे अपने मानस की कमजोरी कही। आज मैं उसी से हार गई, पर अभी भी उससे स्नेह नहीं हारा है। वह सबके ऊपर है। केवल उसी में तो बल संचित है, नहीं तो मैं दुबली-पतली, क्या इस भयानक और कठोर संसार से लड़ सकती थी?

और लड़ मैं नहीं रही। आप लड़ रहे हैं जीवन-चक्र से। मुझे आदेश हुआ है अपने विषय में एक मास के अन्दर निश्चित उत्तर दे दूँ, अन्यथा अपने प्रति संपूर्ण आरोप मुझे स्वीकार कर लेना पड़ेगा। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया है, मन ही मन सोचती रही कहीं आप धोखे से घर आ जावें तब उत्तर दे दूँ, पर आप आये नहीं। मुझे ही आपके पास आना पड़ा। आप मेरे पास आज तक कभी आये भी हैं? प्रारंभ से अन्त तक मैं ही इसके लिये उत्तरदायी हूँ, किन्तु मुझे मालूम है पीड़ा आपकी है, काँटे मैंने बिछा दिये, लोहू-लुहान आप हैं और अभी भी वही क्रिया चल रही है। हे भगवन्! कब तक इस रूप में यह होगा?

पर प्रश्न है जब तक आप इन्हें काँटा नहीं मानते तो दुनिया क्यों परेशान है? द्वैत ही इसका मुख्य कारण है, संसार भले अभी अपने आपको कितना ही सभ्य कह ले पर वह वास्तव में असभ्य ही है, नहीं तो अपने लिये संसार क्यों मिटा देता, संसार के लिये इकाई स्वयं मिट जाती। एक दिन मुझसे सीधा प्रश्न किया गया—मैं जीवन से विरक्त क्यों हूँ, इस आयु में यह संन्यास? ये आभूषण—जिनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य सुबह से शाम कर देता है, तब कहीं इनके दर्शन होते हैं, ये

वस्त्र जिन्हें पहनकर मानव अपने में ही दूरी बना लेता है, सब कुछ ऊपरी है ? यह तो मैंने बहुत देखा है; पर उनमें हृदय कहाँ ? वही जिसमें निर्मल और निश्चल चेतना तिरोहित रहती है, मैंने वही कहीं पाया, उसे स्वीकार कर लिया—अब इस सब बाह्य आकी क्या आवश्यकता है। यह पराधीनता नहीं है और न अधिकार की अवहेलना, यह तो उत्सर्ग है—जो हुआ, वह वापिस नहीं होगा। समिधा को अग्नि में डालने के पश्चात् समिधा नहीं रह सकती गंध दिगंत में व्याप्त हो जावेगी और जो केवल दर्शक हैं, उन्हें वहाँ राख दिखाई देगी। क्या आप कह सकते हैं, मैंने गलत लिखा है ?'

मैंने उत्तर दिया था—संसार में कहीं अनुरक्ति है भी, या बेकार ही इसका शोर मचा रहे हो ? सब विरक्ति तो ही है, केवल समस्या के हल होने तक ही अनुरक्ति होती है फिर बाद में विरक्ति।

मेरी कोई समस्या नहीं है, इसलिये अनुरक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। ये लोग मेरी बातों को पता नहीं क्या कह कर सम्बोधन करते हैं। इनमें कुछ भी समझाने की बात है ?

या कहिये विरक्ति है कहाँ ? अनुरक्ति ही तो है जिसने बेसुध कर दिया है, सारी सृष्टि उसी अनुरक्ति से ही अभिभूत है। मैं भी हूँ, इसमें क्या बुराई है ?

माँ चाहती हैं, मुझे अब अध्ययन समाप्त कर देना चाहिये और विवाह की स्वीकृति दे देना चाहिये, पर पिता जी पूछना नहीं चाहते वे आदेश देते हैं। मेरा विवाह होगा, लड़का उन्होंने देखा हैं, आप यहाँ एक दिन आवें और लड़के के संबंध में चर्चा कर लें, उन्हें सपूर्ण विश्वास आपका ही है, मेरा नहीं। आप क्या पिताजी के आदेश का पालन करेंगे ? माँ आपकी अनुमति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं समझतीं जितनी मेरी, उन्हें कुछ शंका है, आप इसे जानते हैं बहुत गहराई से, पर वहाँ विशुद्ध मातृत्व है, उनकी बात का आप बुरा तो कभी नहीं मानते।

हाँ, आप कब आ रहे हैं? पर बात लिखे देती हूँ। कहीं आदर्श की दुहाई में यथार्थ की हत्या न कर दें। और यथार्थ को बदला नहीं जा सकता। मैं इससे अधिक कुछ न लिखूँगी कि यदि सत्य दबाया गया तो निश्चित सत्य विजयी होगा। पार्थिव असत्य को आखिर हार माननी पड़ेगी।

आपने कहा था—'तुम्हारे नेत्रों में आँसू अच्छे नहीं लगते राधा! आँसू कायरता की निशानी हैं, प्रेम की विह्वलता भी हो सकते हैं। पर ये तो निश्चित पीड़ा से पगे हैं, इन्हें अब कभी न बरसाना।' सच मानिये मैंने सब आँसू पी डाले हैं, अब रोने की क्या बात है? विकल्प समाप्त हो चुका है, अब सब कुछ संकल्प ही तो शेष है। कभी सोचती हूँ क्या संकल्प करना इतना कठिन है? मैंने आपको पहिले भी कभी बताया है, मेरा लक्ष्य भौतिक नहीं है, बिल्कुल नहीं, घटना तो वह है ही नहीं, स्थिति की साधना मैंने आपसे सीखी है और जब आपने हार नही मानी, तो मुझे भी हार जाने पर आप कभी मजबूर नहीं करेंगे।

एक बात बड़ी स्पष्ट पूछना चाहती हूँ—समाज केवल सतीत्व की रक्षा के पीछे इतना क्यों पड़ा हुआ है, इससे अधिक और भी पहलू हैं। इसीलिये शायद संपूर्ण मान-मर्यादा है। सतीत्व लादने की वस्तु नहीं है। वह पुरुष और स्त्री में समान रूप से है, यह तो आप भी मानते हैं, फिर केवल उसी समस्या को लेकर व्यवस्था के ढाँचे को बनाये रखना आपको क्यों प्रिय है? और ऐसा लग रहा है जैसे व्यवस्था के ठेकेदारों ने सृष्टि के कल्प-विकल्प को भी अपने अधिकार में कर लिया है, तभी विवेक अपना काम कर रहा है। आपको शायद परेशानी हो, मैं यह सब क्यों लिख रही हूँ? पर मैं द्वैत में विश्वास नहीं करती और किन्हीं सीमाओं में मेरा अद्वैत कहीं द्वैत से प्रारम्भ होता है। कुछ अधिक न सोचियेगा।

इन दिनों पढ़ने में अधिक समय लगाया है, कुछ लिखा भी है; पर अब नहीं बताऊँगी, आप कहेंगे क्या कुछ अक्लमन्दी छाँटी है पर चाहती हूँ अभी जो कुछ छिपा हुआ है, रहस्य है उसे जान लूँ, इसके लिये

कुछ स्वतंत्र कार्य करूँ, अपने अध्ययन-अध्यापन का उपयोग भी, ऐसा कोई आदेश मुझे दीजियेगा।

भाभी को कभी-कभी पत्र लिखती हूँ, वह देवी हैं जैसे शिव के लिये पार्वती। उन्हें साथ ले आइयेगा ना।

बाबू जी उत्तर की प्रतीक्षा में हैं, उत्तर की उतनी नहीं जितनी आपकी पहुँच की सूचना की। क्या आशा की जा सकती है। शुभम्!

—राधा

जय ने पत्र पढ़ डाला। यह राधा ने क्या लिखा है? और अब शायद इतनी घुटन है कि उस के साथ सबल अभिव्यक्ति घुल गई है। वह राधा के तर्क के लिये उत्तर खोज रहा था पर ये प्रश्न क्या राधा के स्वयं के ही हैं या समाज की उसकी अपनी प्रतिक्रिया है! किस आदर्श के व्यक्ति संसार में हैं और दूसरी ओर कितने आदर्शहीन? किसी को हृदय चाहिये और किसी को बाह्य अलंकरण। एक ही प्राणी के ये दो रूप—दो ही क्यों, अनेक रूप! तब नाना रूपात्मक सृष्टि में दोनों ही साथ हैं।

राधा, उसने सोचा कल्पना की सजीव कृति! हँसते हुए अधर, चौड़ा ललाट, किसी विकल्प में चिंतित से केश, झुकी हुई लम्बी आँखें—कृश-काय! यौवन के द्वार से झाँकते ही जैसे वह लौट पड़ी हो किन्तु कितनी पैनी दृष्टि है, हृदय तक हलचल मचा सकती है। जैसे विरक्ति की छाया हो, कितनी दया-ममता से परिपूर्ण। उसके विचार मधुरिमा और विश्वास की प्रतिमूर्ति हैं। कर्म की कर्मठ उपासिका राधा! एक ऐसा चित्र जय अपने सामने बना रहा था, जिसमें राधा ही आ सकती थी; पर वह पत्थर नहीं था, सुगढ़ मूर्ति ही होती तो क्या बात थी? निर्जीव नहीं, सजीव है। उसकी कला में लगाव था, मोह था, वह राधा को अपनी आँखों से देख रहा था, अपने पास।

पर वहाँ राधा थी कहाँ? वह तो उसकी अपनी कल्पना थी। राधा सुन्दर नहीं है। सुंदर होना अभिशाप है, दूसरे के लिये नहीं, अपने लिये! सुधा सुन्दर है, सौन्दर्य घटना के निकट ही उत्ताल तुरंग है पर नारीत्व वहाँ कहाँ? या पुरुषत्व भी वहाँ न होगा। किन्तु राधा

है, कुछ है—यदि न होती तो इतने विकल्प क्यों होते ? उस निरीह का होना एक विकल्प है; विशुद्ध निर्मल अन्तःकरण की इस संसार को क्या आवश्यकता है ?

उसने सोचा—और प्रत्येक सुधारक विवेकी बनने की सलाह देता है, भावुकता की हत्या ही उसका लक्ष्य है, वहाँ भोग ही सब कुछ है, उसी के लिये सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान है, सब तर्क एक ही के आस-पास खिचे-बँधे हैं; पर क्या सत्य भी यही है ! राधा स्वयं एक सत्य है, विरल भले हो। पर क्या पता ! दूर से ही अनुमान का ही कौन-सा आधार है ? और इसलिये अब संरक्षक चाहते हैं कि वह धन किसी की झोली में डाल दिया जाय। लड़की घर में नहीं रह सकती, लड़की बनकर तो नहीं। मनुष्य शायद डरता है, वह भोग की स्थिति में घटना न बन जाये; इसलिये तो वह घटना से प्रारंभ करता है और वहीं अन्त कर देता है। वह उसके लिये अपनी सीमाओं में एकाधिकार देता है किन्तु यह क्यों नहीं सोचती दुनिया—इससे ऊँचा कुछ और भी है, कुछ अच्छा भी शेष है। राधा का विवाह करना चाहिये। मैं भी यही कहता हूँ। क्यों न चाहूँ ? एक ओर मैं—रानी-सी पत्नी मेरे संकेत पर न्योछावर है और दूसरी ओर मेरी ही एक आत्मा अपनी इच्छित साधना का उत्सर्ग कर दे। क्या यह न्याय है ? राधा को चाहिये वह विवाह कर ले।

जय उद्विग्न हो गया था, वह नहीं चाहता था, वह घटना नहीं चाहता, चाहे किसी के जीवन में ही क्यों न हो। घटना घटी कि अवसान आया या कहो घटना के पश्चात् स्थिति का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है और परिवर्तन की भी कैसी सीमा है ? राधा का विवाह उसके संकल्प-विकल्पों को चुनौती है, उसके शरीर को क्यों बाँध दिया जावे ? जो अपनी आवश्यकताओं को मार सकती है, उसकी आवश्यकता के कीचड़ में फँसाना क्या श्रेयस्कर है ? राधा का विवाह क्यों हो ? और मुझे बाबूजी को अनुमति देना है, ओह !

वह कुछ भी संकल्प न कर पाया। विवाह करने या न करने में उसका क्या था—किन्तु कैसे नहीं था वह वहाँ, इकाई की ईमानदारी—

जिसने उसके संपूर्ण आधारों को बदल दिया। और स्वीकृति-अस्वीकृति की क्या बात है? आदर्श और यथार्थ का कैसा निर्वाह है? फिर वह वहीं पहुँच रहा था—एक ओर पीड़ा है, दूसरी ओर घोर आनन्द! एक के लिये जो पीड़ा है दूसरे के लिये वही आनन्द है। कैसे समझायें इस संसार को। व्यर्थ क्यों कल्पित सत्य के पीछे पड़े हुए हो, आनन्दमयी आत्मा को क्यों अज्ञान के विकल्प के घोड़े दौड़ा कर परेशान कर रहे हो, बंधन में बाँध रहे हो?

एक प्रतिक्रिया उसके मन में जागृत हो गई थी। जैसे वह अपने संकल्प से गिर जावेगा। पर वह ऐसा न कर सका। वह कुछ भी सोच न पाया। दो क्षण मौन पड़े रह कर उसने अपने मानसिक द्वन्द्व का परिहार किया और डायरी लिखने बैठ गया।

मई १०। आज दिन भर दिल्ली में ऐतिहासिक स्थलों को देखने में बिताया। एक नवीन परिचय हुआ, नारी का यह रूप! इसके पूर्व इस रूप में नारी को कभी नहीं देखा जैसे उसे भोग भी चाहिये और बौद्धिक समाधान करने को ज्ञान भी। वह तर्क से संघर्ष करना चाहती है, पर भोग उसका प्रबल है। उसका ही केवल नहीं है, भौतिक सभ्यता की यही तो एकमैव प्रबल देन है। इसलिये पुरुष भी भोग चाहता है। चरम सृष्टि उसका लक्ष्य बनता जा रहा है। नारी यदि उसके उपकरण जुटाती, है तो फिर अव्यवस्था और चरित्र-हीनता की दुहाई समाज में क्यों दी जाती है? यह नारी स्थिति से हार चुकी है और घटना का परिणाम है, घटना का प्रारंभ होना तो रोका जा सकता है, उसको रोक-टोक के लिये क्या कुछ नहीं करना पड़ेगा?

मैं साधारणतया आज विक्षुब्ध हो उठा हूँ। पीड़ा अंतरमन में जाग उठी है, क्यों न जागती पीड़ा? संसार को छलना आसान है, किन्तु अपना छला जाना कठिन है, मेरा यह अभिनय कष्टप्रद और अपने संकल्पों के विपरीत है। किसी की तपस्या की विद्रूप हँसी इसमें जुड़ी हुई है, संसार के व्यक्ति सोचते हैं मैं हारा नहीं हूँ, किन्तु क्या यह भी एक हार का प्रकार नहीं है? परिणाम दोनों का एक-सा है। किन्तु...

ऐसा तो नहीं है यह परिचय असाधारण है, इसे इस रूप में क्यों मनाना चाहिये। क्या मैं भी इसे साधारण मान सकता हूँ ?

आज दो पत्र आये हैं, दोनों ही कितने गहरे हैं। मेरे संपर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति मेरी बोली में ही क्यों दोलता है ? यह बात समझ में नहीं आती। अभी मैं उन पर विचार नहीं कर सका हूँ। पर अब कल नहीं जाऊँगा यही सोचता हूँ। जो अपना है उसका अधिकार अपरिमित है और उससे अधिक अधिकार उसका है जो अपने को मिटा सका है। कैसा विरोधाभास है ! मिटने के पश्चात् उसका अधिकार कैसा ?

हृदय शान्ति का बहाना करना चाहता है पर उसमें अशान्ति अधिक है। मै अपनी भाँति कोई हल नहीं क्यों ढूँड़ पाता, वैसे निष्कर्ष निकाल पाना आसान है।

अब कुछ मन हल्का है। कुछ संकेत ऐसे हैं, जहाँ तर्क काम नहीं करते।

शैलेन्द्र की गतिविधियाँ मेरे होने से बन्द हो जाती हैं, पर यह स्वाभाविक नहीं है। मैं चाहता हूँ कोई भी छिपे नहीं और यदि छिपेगा नहीं, अवगुंठन न होगा तब निश्चित ही आनन्द है। और सब कुछ यहीं तो है। किन्तु इतनी सरलता आसान नहीं है, शायद इतना साधारण जीवन जीवन की कोटि में नहीं आता।

मैं एक दिन ठहर कर घर लौट जाऊँगा। और फिर रानी को लेकर राधा के यहाँ जाना उचित है। पर मैं विवाह की स्वीकृति या अस्वीकृति देने का अधिकारी नहीं हूँ।

जय ने डायरी बन्द कर दी, किन्तु फिर भी उसे नींद नहीं आई। वह बिस्तर पर लेट गया, बत्ती जलती रही। संकल्प-विकल्पों में उसका मन खो गया। रात उसे अधिक कष्टप्रद प्रतीत हुई जैसे जो आनन्द है, सुख है, कल्पित है, उसी पर कोई कुठाराघात कर रहा हो। वह सोचता रहा—राधा को पत्र लिख दूँ। पत्र लिखने में उसके मानस में इतना विकल्प क्यों उमड़ रहा था। जो अपना कोई नहीं, उसके प्रति इतना

सोच क्यों ? और यदि अपना ही है तो अधिकाधिक ढँग से लिखने में इतना संकोच कैसा ?

फिर यही तय हुआ, राधा को पत्र लिख कर वह सो जाये।

दिल्ली
मई १०

प्रिय राधा,

पत्र मिला। उसके मिलने न मिलने में कोई असाधारणता समझ में नहीं आई। बात केवल इतनी है कोई बात ऐसी अवश्य है, जिसने तुम्हारे संकल्प को हिला दिया। तुम्हारा पत्र मिलने के पश्चात् भी बहुत देर तक यह विश्वास न हुआ, यह तुम्हार पत्र है। राधा का; तुम, तुम यदि इतनी निरीह न होतीं तो शायद इतने दिनों स्मृति बन कर न रह पातीं। इस सत्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है, वैसे कितने प्राणी हैं संसार में, पर विरले ही कहीं उलझ जाते हैं, यह उलझन किसी एक ही प्रकार की नहीं होती और सब किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित हो कर ऐसा होता है, यह मैं नहीं मानता। मेरे दर्शन में तुम्हें ज्ञात है, द्वैत नहीं है, माया नहीं है, भ्रम नहीं है। जो लोग यह कहते हैं, इससे छुटकारा लेना है, उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती। अपने-आप से छुटकारा लेकर फिर ठिकाना कहाँ होगा ? इसलिये मैं कहता हूँ—उत्तर विकल्प है, उत्तर ही नहीं प्रश्न भी विकल्प है। चाहे उसका कारण ज्ञात हो या अज्ञात। आनन्द सबके ऊपर है।

इसलिये इस दुःख से परिपूर्ण संसार को देख कर व्यक्ति दुःख के कारणों की खोज करने चल पड़ता है, पर उसका अन्त क्या है—दुःख के अनस्तित्व की घोषणा करना, निर्वाण की सीढ़ी पर पहुँचना, वह भी कौनसा समाधान है, इसलिये मनुष्य को कहा गया है, सम्यक रीति से जीवन बिताना चाहिये। यह तो हुई दुःख की बात।

अब आनन्द की बात लो। सुख और आनन्द एक नहीं हैं। सुख कल्पित है दुःख की भाँति। आनन्द स्थिति है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है, उसको अनुभव किया जा सकता है। तुमने किया है ऐसा

मेरा विश्वास है। तुम उससे सामीप्य स्थापित कर सकती हो, तुम्हारे पत्र से मुझे ऐसा ही लगा।

तुमने व्यक्ति के भयभीत होने की बात लिखी है। सच है मनुष्य जितना भयभीत आज है, शायद पहिले न होगा—वह आनन्द से, आत्मा से उतना ही दूर है। बाह्य में अधिक उलझा है इसलिये अपनी सत्ता से दूर यदि हो जाये तो आश्चर्य नहीं करना चाहिये और प्रत्येक अपने क्रम में इसका साक्षात्कार कर सकता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस वाली बात तुम्हें याद है न, पाँच वर्ष का बालक जैसे सारे संसार की बात नहीं जान सकता वैसे ही आत्मा की उद्‌बोधिनी आयु में जो अभी प्रारम्भ कर रहे हैं, इन्हें थोड़ा समय चाहिये। समय के पूर्व उसे समझ लेने में कभी कभी गलत समझ जाने का डर है। और इस स्थिति के परिचय की घोषणा कोई न्यायाधीश नहीं करेगा। उन्हें स्वयं करना पड़ेगा। तुमने 'शिव सूत्र विमर्शिनी' के कुछ सूत्र पढ़े थे न? अपने देश में उस दर्शन ने व्यवहार में क्या से क्या रूप ले लिया। लोक-जीवन में वही आनन्द बिखरा हुआ है। वेदान्त तो शुष्क विषय है ऐसा विद्वानों का मत है; पर मुझे ऐसा नहीं लगता। धर्म के कर्मकांडी रूप में उसमें कितनी कुरीतियाँ मिल गईं; पर आज भी उसकी सत्यता में शक नहीं किया जा सकता। तुमने पत्र में कविता के कुछ अंश लिख दिये हैं, है न यह अनुभूति की अभिव्यक्ति। कोई कितना भी छिपे पर उसकी अभिव्यक्ति के लाख प्रकार हैं। मैं तो फिर भी यही कहूँगा कि अभिव्यक्तियों को सहेज कर रखा करो। पता नहीं स्वयं के ही या दूसरे के आनन्द में उनका संयोग हो जाये। सच तुम कंजूस हो। पर यह कंजूसी अपने तक ही सीमित है।

प्रेम के संबंध में मैं तुम्हें कुछ नहीं लिख सकता। शायद इसलिये कि मेरे जीवन में तुम्हारे परिचय के पूर्व प्रेम नहीं था, केवल कर्म था, और अभी भी प्रेम का सारा धरातल किसी ने कृपापूर्वक मुझे दे दिया उस पर मैं मौन हो जाता हूँ। मुझे अपनी अज्ञता पर कभी-कभी आश्चर्य होता है, कोई मुझे अपना सब कुछ दान दे गया और मैं विस्मय-

विमुग्ध देखता ही रह गया ! और जब उस विषय पर सोचा तब लगा वहाँ अपना अधिकार नहीं है। जिसने दिया, उसी का है। अभी-अभी एक पुस्तक रेल में पढ़ी—टाल्सटाय की आत्म-कथा—उसने प्रेम की परिभाषा की गई है, उसका विभाजन भी कर दिया है। पर ऐसा लगता है भारत को छोड़ कर इतर देश के व्यक्ति प्रेम को पता नहीं क्या समझते हैं ? वहाँ प्रेम का संबंध निश्चित ही भोग से है। तुम्हारे अनुसार प्रेम भोग नहीं है, मैं भी यही बात मान लेता हूँ। तुम्हारा प्रेम आनन्द के अधिक निकट है, भोग सुख के निकट हो सकता है।

तुमने शिकायत की है, मैं वहाँ से चल दिया, भाग कर, विमुख हो कर। हो सकता है इसमें कुछ सच्चाई हो, पर जो अपना है उससे मिलने न मिलने से अपनत्व क्यों दूर हो जाये और जो सदैव निकट है, आत्मा के बिल्कुल पास, तो फिर उससे दूर होने में निकटता के प्रति कोई उपेक्षा नहीं है, वह तो निकटता ही है। इतनी-सी दूरी से विशाल आत्मभाव में स्वीकृत यह निकटता यदि कम होने लगे, तो उसे एक भ्रम ही समझना चाहिये।

और तुमने लिखा है कि 'मेरा हित मेरे न होने में है'। यह कोई स्थिति नहीं है वहाँ तो केवल अस्तित्व ही है। आकार न होना कोई स्थिति नहीं है। आकार-परिवर्तन का भास होना, न होना नहीं हो सकता। फिर न होने में तुम्हारा कौन-सा भाव छिपा है ? कुछ न कुछ प्रत्येक रहता है। कभी जड़ कभी चेतन। तुम्हें याद होगा मैं जड़ को चेतन की स्थूलता और बाह्य अलंकरण मानता हूँ और चेतन को जड़ का चरम परिष्कार। एक दूसरे की पूर्ति के उपकरण भी माने जायँ तो कोई आपत्ति न होना चाहिये। फिर संसार से कहीं भाग कर कौपाय धारण कर सब योनियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-योनि को इस भाँति नष्ट करने का संकल्प कितना अमानवीय न होगा समझ में नहीं आता।

मैं किसी के आनन्द में बाधा पहुँचाने का अधिकारी नहीं हूँ। तुमने जो सोचा है यदि इसी रूप में है तब कुछ नहीं कहना, पर कुछ भी निश्चय करने के पूर्व बहुत गहराई से विचार कर लेना उचित है। मैंने

अभी तक कुछ भी निश्चय नहीं किया है। कब आऊँगा इस संबंध में शीघ्र लिखूँगा। बाबूजी से कह देना, उन्हें प्रणाम भी।

आशा है तुम स्वस्थ एवं सुखी होगी। शिवं।

तुम्हारा

जय

●

दस . . .

प्रभात कितना सुमधुर होता है यदि उसमें रात्रि के स्वप्न जुड़े हों, मादक अवसानों का संकल्प उससे बँधा हुआ हो। सुधा ने रात्रि भर कल्पना-लोक में विहार किया? स्वप्न की आकृतियाँ बहुत धुँधली-सी उसे याद पड़ती थीं पर वे उसके लिये अपरिचित न थीं, परिचय की क्षीण रेखा किस रात्रि की स्वप्न-लीला बन जाती है, उसका कोई अनुमान नहीं लगा सकता। आगत भविष्य, विगत अतीत और समाहत वर्तमान में कौन-सी क्षीण रेखा स्वप्न न बन लेगी; पर सुधा को अनुभव हुआ उसके स्वप्न कोरे स्वप्न नहीं हैं, उसका भविष्य इतने अंधकार में नहीं है और किसी बात को लेकर बैठे रहने की बात अब उसमें नहीं है। विचार द्वन्द्व के भाव से बोझीले उसके कुंतल जब श्रम का परिहार करते हुए सिहराने पर जा गिरे थे, तब उसे लगा था संसार एक बोझा है, जीवन एक कैदी की सजा और साँसें बेगार का भार ढोनेवालीं। किन्तु प्रातः ने रात्रि का वह बोझा उसके मस्तक पर से उतार लिया। उसे अनुभव हुआ कि संसार एक फुलवाड़ी है, जीवन भोग करने का अमिट वरदान और साँसें आदान-प्रदान में प्रफुल्लता भर देने वाली स्रोतस्विनी!

उसने अनुभव किया, उसके पैर की जंजीर किसी ने तोड़ दी, किसी विचार ने उसे मुक्त कर दिया, स्वच्छन्द! प्यार के लिये बन्धन कैसा, एक ही व्यक्ति क्यों? स्थान और काल किस लिये? नैतिक आधार

वहाँ क्यों चाहिए ? सीमा, संकोच, और प्रतिबन्ध अपरिपक्व लोगों के लिये है, जो जिन्दगी को जिन्दगी नहीं समझते, और कुछ भले ही समझते हों। और शेष कुछ रहेगा भी नहीं—आस्वाद भोग और सुख! उसने धीरे से कहा—

कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द !

और स्थिति स्वयं भोग है, घटना नहीं ! उसने एक बार फिर उस पुराने विचार को बदल दिया।

किन्तु यह परिवर्तन, उसका अपना, स्वयं के आश्चर्य का कारण भी तो था। हाँ, आश्चर्य ! प्रो० जय के सपर्क में ऐसा कौन-सा माधुर्य है, जिसने उसके शुष्क जीवन में एक बार पुनः मधुरिमा का स्रोत बहा दिया ! सुधा इस बात को स्वीकार करे न करे पर हुआ ऐसा ही। इस व्यक्ति में, कितना अपनत्व है, स्वच्छन्दता उसमें ऐसी ही है, प्यार करने की हृदय में हूक उठ आये तो क्या आश्चर्य ? पर क्या उनसे स्नेह किया जा सकता है ?

उसने ऐसी किसी बात में उलझना उचित न समझा। स्वप्निल अनुभूतियों को विराम देकर वह घर के काम-काज में उलझने लगी—तभी उसकी दृष्टि टेबुल पर रखे हुए एक लिफाफे पर पड़ी जो उसी के लिये जाने कब से रखा हुआ था। वह झपट पड़ी, तो क्या रात्रि में उसने यह भी न देखा, यह किसका पत्र है ? पत्र परिचित-सा लगा ! उसकी सखी का पत्र जो था, दास्तान बड़ी पुरानी पर लिखने का ढंग नया। बहुत से उलाहने उसमें जुड़े हुए थे पर वह उससे मिलने आ रही थी। यह बात सुधा के लिये विशेष थी। घर साफ-सुथरा जो चाहिये था न, वह अपने होनेवाले पति के साथ आयेगी, इस बात पर सुधा को आश्चर्य नहीं था, एक कल्पना वह कर रही थी, कैसा होगा उसका प्रिय ! अभी सुबह के सात बजे थे और साढ़े नौ बजे का समय उसने लिख दिया था।

पर यह क्या हुआ ? सुधा ने सोचा, यदि प्रोफेसर साहब नहीं गये तो उन्हें आज खाने पर बुलाना है और यह सब कैसे होगा ? होगा क्यों नहीं, सब होगा--उसने आत्मविश्वास की साँस ली और फिर काम में जुट गई।

× × ×

'मैंने सोच लिया है शैलेन्द्र ! मैं आज नहीं कल जाऊँगा।'

'हूँ, कल की बात आज क्यों ?'

'नहीं, भाई ! इसलिये कि मैंने पत्र लिख दिया और घर जाऊँगा फिर और बहुत से काम हैं। दायित्व तो दायित्व ही है, यदि उसका निर्वाह न किया गया तो ! पर आज कहाँ घूमा जाय ?'

'कुतुब चलेंगे'--शेलेन्द्र ने कहा। 'दूर तो अवश्य है पर देखने की चीज है।'

ठीक है, यह निश्चित हो गया पर उत्साह उसका मर-सा गया था। पत्रों को पढ़ कर वह क्या से क्या हो गया ? पहिले वह अपने से पृथक् होकर सोच रहा था, अब जैसे सारे संसार को जोड़ कर सोचना चाहता है। कोई दूसरा है कहाँ ? राधा ने इकाई के रूप में अपनत्व की घोषणा की और जय ने संपूर्ण सृष्टि में अपनत्व खोज डाला है, खोजना पड़ा उसे ! निरीह और निर्मल अन्तःकरण, प्रेम और शालीनता से परिपूर्ण जीवन मुक्त नहीं, उन्मुक्त नहीं। लाख बंधन है, स्वयं के और दूसरों के भी। तब यह सब क्यों है, क्या इसकी भी आवश्यकता है ?

तब बात और गहरी होती गई। सौन्दर्य ने प्रकृति और भावुकता ने आत्मा की खोज कर डालनी चाही। क्या नहीं पढ़ा जय ने अपनी बात का समाधान करने के लिये। राधा की अज्ञात, अकृत्रिम इच्छा के कारण की बात उसे गहराई से छू गई। फिर प्रश्न राधा का ही नहीं रह गया, कितने निश्चल प्राणी संसार में पड़े हुए हैं और प्रत्येक सहृदयता का अन्त इतना भीषण और विषम।

मित्र सोचते हैं, निरर्थक-सी बात के लिये इतना सोच क्यों ? यह तो साधारण बात है। साधारण संबंध तक जो स्थूल है, उनका भी जब कोई महत्त्व नहीं है तो इस बे-बात की बात का क्या तात्पर्य ? जय उन्हें

समझना नहीं चाहता। समझने की कोई बात नहीं है, पर केवल यहीं उसका अन्त भी नहीं है। उसे विश्वास है वह सत्य खोज लेगा। सारे विकल्प किसी समय संकल्प पा लेंगे।

कुतुब के लिये जय और शैलेन्द्र तैयार होकर निकल पड़े।

मनुष्य भी कैसा है? अपने मरने के पश्चात् अपनी स्मृति रख छोड़ना चाहता है। कोई किसी रूप में अपनी घटनाओं को प्रकृति के पटल पर सदैव के लिये अंकित करना चाहता है। प्राचीन से प्राचीन सामग्री इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बन पड़ी है। और ऐसा नहीं है कि ये प्रतीक चिह्न उसकी याद नहीं दिलाते हैं...दिलाते हैं, भले ही प्रस्तर-खण्ड क्यों न हों। उनमें भी आत्मा बोलती है।

सड़क से कुतुब की दूरी बहुत है, लगभग १२–१३ मील पर स्थित वह दार्शनिक स्थान गुलाम वंश के बादशाह कुतुबुद्दीन ऐबक के द्वारा निर्मित एक कीर्ति स्तम्भ ही है। वहाँ तक पहुँचने का काम सायकिलों से किया गया, लगभग दो घण्टे लग ही गये, वैसे मोटर में बैठ कर घूमने में दिल्ली का वह दृश्य तो नहीं दिखाई पड़ सकता जिसके निमित्त दिल्ली दिल्ली है।

सीढ़ियाँ गिनते-गिनते थक जाना वहाँ कोई वैचित्र्य नहीं है, और नीचे से जितना स्थान दीखता है ऊपर जा कर कितना सकरा हो गया है। बात चल पड़ी मीनार और उसके बनानेवालों की। बड़ी पुरानी बात है, कुतुब के पास ही एक मन्दिर-मस्जिद-सी मिली जुली इमारत से जिसके मध्य एक लोहे की कील गड़ी हुई है, अनेक किम्वदन्तियाँ उसके विषय में प्रचलित हैं। जय और शैलेन्द्र दोनों ही अन्य दर्शकों की बातों का आनन्द लेने में खो-से गये।

पर स्थल देखने के पश्चात् कभी-कभी प्रफुल्लता और कभी विषाद मानस में क्यों उतर आता है, यह बात जय सोच रहा था। आज वह विषाद से भर गया था। जब उसने उस शिला की विरूपता को देखा तब ऐसा लगा एक राज्य दूसरे राज्य पर अपनी छाप क्यों छोड़ना चाहते हैं। राज्य ही नहीं धर्म भी। क्या वास्तव में धर्म का यह भी एक पहलू

है। फिर अपनी बात मनवाने के लिये मनुष्य क्या से क्या नहीं करते ? धर्म-परिवर्तन जो लोग करते हैं, क्या वह इससे अधिक कुछ कर पाते हैं।

'इस इमारत में पौरवात्य और पश्चिमात्य दो शिल्प मिले-जुले हैं'—शैलेन्द्र ने एक स्थान की ओर संकेत करते हुए कहा।

'नहीं, एक को मिटा कर दूसरे का निर्माण किया गया है'—जय ने उत्तर दिया—'यदि मिलना-जुलना स्वाभाविक रूप में हो तो झगड़ा किस बात का, किन्तु ऐसा होता नहीं है शैलेन्द्र ! मनुष्य अपनी योजना के अनुसार अप्राकृतिक रूप से मिलना चाहता है, तभी वह एक ऐसा अनमिल स्वरूप तैयार हो जाता है जिसको देखकर यदि घृणा हो जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शायद यह रूप की विरूपता के प्रति सच्ची आत्मीयता का स्वरूप हो, जो मनुष्य किसी संकेत पर करता है। हम इन्हें दानव वृत्ति कह सकते हैं, यदि देव वृत्ति मानते हैं तो ! और यह संघर्ष आदिकाल से सृष्टि में है, आज तक वर्तमान है।'

'किन्तु भाई !'—शैलेन्द्र ने उसकी ही बात की पुष्टि करते हुए कहा—'देव और असुर आज कहाँ हैं ? तुम भी तो मनुष्य को मनुष्य बनाने में लगे हुए हो। यदि वह अति नैतिकतावादी है तब भी तुम्हारी आलोचना का पात्र है और यदि वह घोर अनैतिकतावादी है तब भी। पेण्डुलम को थाम कर कैसे रखा जा सकता है, और मुसलमान बादशाहों ने जो यहाँ की शिल्प-कला को नष्ट-भ्रष्ट किया है उसके पीछे तुम कुछ दार्शनिक उत्पत्ति भले ही खोज लो किन्तु वह स्पष्ट शब्दों में धार्मिक मदान्धता है।'

चर्चा स्पष्ट और उग्र रूप धारण कर रही थी। शैलेन्द्र भी अपने आपको अधिक स्पष्ट नहीं करना चाहता था और जय भी। यद्यपि राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय, कट्टर धर्म पंथी और सहिष्णु महापुरुषों की चर्चा को इतना कुछ जोरों से चल रही थी कि देखने आये हुए व्यक्तियों में से एक व्यक्ति ने सहज ही बीच में हस्तक्षेप कर डाला।

'भाई साहब का ख्याल ठीक है। सीधी भाषा में तो केवल यही बात ठीक है, मुझे लगता है यह कोई विशाल मन्दिर था जिसको मस्जिद में बदल दिया गया है, और आज के धर्म-निरपेक्ष राज्य में यह ऐति-

हासिक सत्य किसी के मुँह से निकल जाय तो लोग न मालूम क्या अन्दाज लगा लें।'

अपरिचित सज्जन की चर्चा बड़ी मनो जक थी, मनोरंजक ही नहीं वह लौकिक सत्य था, पर कोई भी उस बात को बढ़ाने के पक्ष में नहीं था।

जय को यह प्रसंग प्रिय नहीं था। कारण भी तो था। यदि उसका विश्लेषण किया जावे तो सामाजिक व्यवस्था, राजनैतिक परिवर्तन आदि कितने ही कारण एक के बाद एक स्पष्ट होते जावेंगे। हो सकता है उसकी प्रतिक्रिया भी हो और उस प्रतिक्रिया का एक पहलू अपने आप में सत्य और सप्राण हो। यह चिन्तन साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी कहलाया गया किन्तु वास्तव में क्या यह ऐतिहासिक सत्य की प्रतिक्रिया है? और साम्प्रदायिक तो बिल्कुल ही नहीं है। जो इनके उन्मुक्त विश्लेषण को और उसके प्रति न्याय करने की माँग की बात को साम्प्रदायिक कहते हैं। निश्चित ही उनमें सांप्रदायिक भावना प्रबल है, वे गुटबाज है, राजनैतिक शब्दावली में कूटनीतिज्ञ हैं।

और भी पहलू इसके हैं। महत्त्व प्राप्त व्यक्तियों की उक्तियाँ चाहें वे कैसी भी क्यों न हों, महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती हैं? मनुष्य सोचना नहीं चाहते, जहाँ सोचते हैं वहाँ उनका संबंध हृदय से नहीं होता। फिर जय सोच रहा था, यह व्यावहारिक और स्थूल आकार किसी सूक्ष्म की अनुभूति के बिना संबंध नहीं है, संसार से अपना संबध बनाने के ढंग पर यह सब बातें हैं, प्रकृतिवादी के लिये भोग ही जब सब कुछ बन जाता है, तब सृष्टि के सौन्दर्य से उसका संबंध छूट जाता है और निवृत्तिवादी के लिये त्याग ही जब बन जाता है तब भी सृष्टि के सौंदर्य से उसका संबंध विच्छेद हो जाता है। राजनैतिक या धार्मिक दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अपना मन्तव्य पूरा करने के लिये कभी एक का और कभी दूसरे का आश्रय ग्रहण करता है। सारी मान्यताएँ उसकी अपनी होती हैं। राजनैतिक दल, धार्मिक मठ इसी का परिणाम हैं। वहाँ घेरे से बाहर प्रत्येक को प्रभावित कर छोड़ दिया जाता है, निकट आने पर उसका

प्रकाश क्षीण न हो जावेगा क्योंकि वह वास्तविक नहीं है, आत्मानन्द से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

'इस देश की राजनैतिक परिस्थिति बड़ी विचित्र है। यहाँ मनुष्य बुद्धि और तर्क के बल पर नहीं धर्म और भावना के बल पर अपने दल में शामिल किये जाते हैं। जो विशुद्ध राष्ट्रीय होने का दावा करते हैं, उन्हें भी दार्शनिक बन जाना पड़ता है। पर सच तो यह है, दार्शनिकता उनके स्वभाव में नहीं होती और राष्ट्रीयता के गुणों का उनमें अभाव रहता है।'

जय अपने विचारों को इस प्रसंग में प्रकट नहीं करना चाहता, शायद इसलिये कि कहीं ये विचार व्यवस्था के लिये अहितकर तो न होंगे, फिर शायद आज इसकी आवश्यकता नहीं है। आनन्द के लिये, अनुभूति के लिये सब आसान है। लोग जड़ मन्दिर तोड़ते हैं, भोग करते हैं, शायद वे समझते हैं, यही चेतना है। कितना गलत अर्थ उन्होंने इन बातों का लगा लिया है—

भोग का कर्म, कर्म का भोग,
यही जड़ का चेतन आनन्द।

किन्तु इस अनुभूति में श्रद्धा की निष्कपटता और निश्चलता कहाँ है, उसकी उस मधु मुस्कराहट जो सब में साम्य ला सकती है।

वे लोग प्रायः थक चुके थे, देखते-देखते अनेक प्रसंग चले और समाप्त हो गये, जैसे उनका संबंध केवल उसी स्थान विशेष से हो। लगभग ग्यारह बज रहे थे, और अभी लगभग डेढ़-दो-घण्टे वापिस होने के लिये चाहिये था, फिर शैलेन्द्र ने सुधा को सूचित भी नहीं किया था, जय जा नहीं रहा है, उसे शायद ज्ञात न हो।

'सुधा को कोई समाचार प्रातःकाल नहीं भेजा, और उससे कहते ही आते'—शैलेन्द्र ने सायकिल पर बैठते हुए कहा।

'तुम जानो'—जय ने उसी टोन में जवाब दिया, 'और अब याद आया है जब ग्यारह बजे हैं।'

'मैं तो जानूँगा ही'—उसने कहा—'पर सुधा के विषय में तुम्हें अधिक जानना चाहिये।' शैलेन्द्र ने चुटकी ली। 'वह लड़की भी विचित्र

है, जय ! लड़की क्या युवती है, बाहर से, शक्ल सूरत से फिलॉसफर (दार्शनिक) समझ में आती है, हृदय से संसार को ठग सकती है और व्यवहार में इतनी सजग कि वह किसके प्रति आकर्षित है, यह जानना कठिन है।'

जय ने उसी जिज्ञासा-हीन भाव ना से पूछा--'अच्छा ऐसी लड़की ! पर ऐसे व्यक्ति बुरे नहीं होते, शायद।'

'बुरे, बुरे ही नहीं खतरनाक भी होते हैं। जिन्दगी बदल देते हैं। दूसरे की जिंदगी मौत बन जाती है और उनका यह शौक होता है।'

शैलेन्द्र ने बात बदल कर पूछा--'मालूम है, कल जब हम लोग किले में घूम रहे थे, मेरे मित्रों में से एक ने पूछा था कि वह सुधा को जानता है पर तुम्हें उसके साथ ऐसे घुल-मिल जाते देख उसे आश्चर्य था। पर मैंने उसे समझा दिया था।'

सायकिल चली जा रही थी, उनकी बातें भी। कभी-कभी सामने से मोटर-ताँगे आदि के आ जाने से व्यवधान अवश्य हो जाता था—फिर बात प्रारम्भ हो जाती थी--शैलेन्द्र ने फिर कहा--'तुम इतने सीधे पहले तो नहीं थे, सीधे हो नहीं, इतने खोये हुए, इतने विरक्त ! पर फिर भी लोग तुम्हारी तरफ क्यों खिंचे चले आते हैं ?'

फिर वह जय की मुस्कराहट के साथ स्वय ही हँस पड़ा, उसने कहा--'एक शेर सुनो--बड़ा फिट है--

साकिया क्यों न हविस हो तेरे मैखाने की
दिल है शीशे का तेरी आँख है पैमाने की,
आँखों आँखों में पिला दी मेरे साकी ने मुझे
अब न शीशे की जरूरत है न पैमाने की।'

जय को शैलेन्द्र की यह जिन्दादिली बहुत पसंद है। उसके मुँह से निकल पड़ा--'बहुत बढ़िया ! बहुत सुन्दर !!' उसने दुहराया--

आँखों ही आँखों में पिला दी मेरे साकी ने मुझे'

और शैलेन्द्र ने फिर से शेर की अन्तिम पंक्ति जोड़ दी--

'अब न शीशे की जरूरत है न पैमाने की।'

फिर वे लोग कुछ देर चुप हो गये । जय ने मौन भंग करते हुए कहा—'तुम जो बात कह रहे थे प्रत्येक व्यक्ति ऐसी ही बात मुझसे क्यों कहता है । क्या तुम्हारा अनुमान है, मेरे दिल नहीं, आँसू और हँसी नहीं है ? और मैं प्यार करने का अधिकारी नहीं हूँ ।'

'अच्छा जी ! अब भी प्यार करने के अधिकारी होगे ।'

'देखो ! गलत न समझो । प्यार को इतने छोटे घेरे में मत बाँधो, नहीं तो वह प्यार नहीं कुछ और जो जावेगा । और नारी को चौबीस घण्टे सेक्स की भावना से मत देखो तब उनसे स्नेह किये जाने में किसी को कोई एतराज नहीं होना चाहिये । नारी को भी नहीं, यदि उसे यह विश्वास दिया दिया जावे कि यह व्यक्ति केवल भोग तक ही सीमित नहीं है ।'

बात शैलेन्द्र को कुछ व्यावहारिक और अच्छी लगी पर जैसे जय कहीं उपदेशक तो नहीं बन जायेगा । उसने हूँ, हाँ कर दी, पर जय कहता रहा ।

'यह अनुभव की बात बतला रहा हूँ, मेरे संपर्क में आने वाले स्त्री-पुरुषों की संख्या बहुत है, युवक और युवतियों का मैं समझता हूँ प्रत्येक का सम्पर्क होता है, पर मैंने जितना उनके हाव-भाव से पढ़ा और देखा है यही एक सत्य मुझे प्रतीत हुआ । इसी की खोज के लिये मुझे बहुत चिंतन और मनन करना पड़ा, शायद इसे तुम एकांगीपन भी कह सकते हो, यही खो जाना है, पर मैं पहिले से अब दुनिया को अधिक प्यार करता हूँ, नहीं तो इतने दिनों तुम बुलाते रहे, नहीं आया और जब मैंने सोच लिया तब चला ही आया । मैं प्रेम के लिये ही जा रहा हूँ तब ही तुम्हारे पास दौड़ पड़ा । जिसके पास थोड़ा-सा भी दिल है, जिसका मन साफ है, मुझे खींच लेता है, यह बात दूसरी है...'

शैलेन्द्र ने बात पूरी की—'यह बात दूसरी है—मैं खिंचता नहीं हूँ, उसे वहीं मझधार में छोड़ कर चल देता हूँ ?'

फिर दोनों मित्र जोर से हँस पड़े । कुतुब से बहुत दूर निकल आये थे। कुछ दूकानें दिखाई दीं सोचा गया कोको-कोला ही पी लिया जावे ।

पर वह हँसी बहुत देर चलती रही।

शैलेन्द्र और जय जब लौटे तब तक बारह से ऊपर ही समय हो गया था। फिर खाने के लिये होटल की ओर मुड़ने का इशारा हुआ ही था कि उन्होंने एक बार घर तक पहुँच जाने की बात सोच ली। किन्तु उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब जय ने देखा—सुधा उन लोगों की प्रतीक्षा में मकान के नीचेवाले भाग में खड़ी है।

'आप ?'—जय ने विस्मय भरी दृष्टि से देखकर कहा।

'जी हाँ, आपका जब कोई समाचार नहीं मिला तब मैंने ही सोचा, मैं स्वयं ही चलूँ। पर...'

'पर, उसके लिये सुधा मैं माफी माँग लेता हूँ, मैं ही भूल गया कि प्रातः तुम्हें सूचना दे दूँ कि जय एक दिन और ठहरेंगे।' शैलेन्द्र ने कहा।

बैठक का कमरा खोला गया, तभी सुधा ने कहा—

'अब बैठिये नहीं, खाना कब का ठण्डा हो गया है, खाने की वजह से तो भाई साहब भी बैठे हैं, पर आप....आपका कोई पता नहीं। मालूम है तीन बार मैं यहाँ समाचार भेज चुकी हूँ, इस बार मैं स्वयं ही आई हूँ।'

'इतना कष्ट सुधा देवी !...सचमुच आपने बहुत कष्ट किया।'

'कष्ट मुझे नहीं, आपको होगा, करना पड़ेगा, मुझे इसका अवश्य खेद है, कहीं आपकी स्वच्छन्दता में मैंने बाधा तो उपस्थित नहीं की।'

अब तक सारी औपचारिकता समाप्त हो चुकी थी, पर कल की सुधा और आज की सुधा में जय को इतना अधिक परिवर्तन क्यों दिखाई दिया ? सुधा इतनी गंभीर कल तो नहीं थी, इतनी संयत भी। दूर से ही खड़े-खड़े बातें करती रही।

जय ने कहा—'अच्छी बात है, बैठिये तो एक मिनट, अभी चलते हैं।'

और इस बीच में शैलेन्द्र तैयार होकर आ पहुँचा था। जय को कुछ बिलम्ब हुआ।

'दा!'—सुधा ने कहा—'आज सुबह वे आये थे और उनकी होने वाली पत्नी भी। मैं चाहती थी आप उनसे मिलते और तभी मैंने आपको बुला भेजा था।'

शैलेन्द्र के सामने प्रश्न था—'कौन वे, क्या वह व्यक्ति आया था जिसने सुधा के साथ खूब रंग-रेलियाँ की थीं और बाद में छोड़ कर चला गया था—क्या नितीन आया था?

'वे लोग चले गये?'

'हाँ, कल हम लोग जब देर से लौटे थे, तभी जेनी का पत्र आया था। आप जानते हैं न, जेनी को? उस दिन घर पर मैंने मुलाकात कराई थी। वाय० एम० सी० ए० में रहती थी और किसी सेक्रेट्रि-एट में काम करती है, अपने होनेवाले पति के साथ आई थी।

'क्या उसे भी तुम जानती हो?'

'हाँ',—वह कुछ झिझकी फिर उसने कहा—'आप भी जानते होंगे मि० नितीन को। मेरे साथ विवाह की बात तय हो रही थी। अच्छा हुआ, वे क्रिश्चियन बन कर जेनी से विवाह करना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिये आपके पास कोई इलाज है?' सुधा का मुँह लाल हो गया था, वह बहुत कुछ कहना चाह रही हो जैसे, तभी जय वहाँ तैयार हो कर आ गया था।

और बात वहीं समाप्त हो गई। शैलेन्द्र नई समस्या में उलझा दिया गया था। और सुधा जैसे कुछ कह कर हल्कापन अनुभव कर रही थी, पर जय को उन सब से इस रूप में कोई मतलब नहीं था।

वे तीनों ही घर से निकल पड़े। जय के व्यक्तित्व और सुधा के स्वरूप को सड़क के दुकानदार आँख बचा कर देख लेते थे। पर वास्तव में वे तीनों ही अपनी अपनी धुन में बढ़े जा रहे थे और सड़क पर देख कर प्रश्न करते और अनुमान लगानेवालों की कोई कमी नहीं है। सुधा से न रहा गया उसने कहा—

'प्रो० साहब आपके रहन-सहन, चाल-ढाल और वेश-भूषा को देख कर मेरे एक पड़ोसी ने बड़ी जिज्ञासा प्रकट की है। दिल्ली में ऐसे लोग कम

मिलते हैं—उनका ख्याल है, आप दिल्ली के रहने वाले नहीं हैं, पर दिल्ली को कुछ भी नहीं समझते।'

बात कुछ हँसी की थी। अपरिचित व्यक्ति दूसरे की जिज्ञासा कितना बड़ा कारण है और उसकी क्रियाएँ भी प्रश्न ही बने रहते हैं।

किन्तु शैलेन्द्र के सामने यह बात आसान नहीं थी। उसके ऐसे अनेक मित्र थे जो दूसरे की मित्रता' दूसरों का स्नेह, लड़के-लड़की की एकांत गोष्ठी ही नहीं सार्वजनिक गोष्ठी को भी बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। वह ऐसा नहीं था पर यही बात सुन-सुन कर कभी-कभी किसी पर शंका कर बैठता है। संगत का जो असर है।

'उनके समझने की भली चलाई, सुधा देवी!' जय ने कहा—'आदमी अपने अनुसार ही दूसरों को समझता है, अच्छा या बुरा, चरित्रवान् और चरित्रहीन, वह स्वयं ही होता है और दूसरे व्यक्ति का अनुमान उसी के हिसाब से करता है।'

शैलेन्द्र बात पूरी करना चाहता था, किन्तु यदि सुधा वहाँ न होती तो कह डालता, सेक्सवाली बात। आज समाज के कुछ पढ़े-लिखे और अपने आपको समाज का अधिष्ठाता समझने वाले व्यक्ति दूसरों के चरित्र के विषय में बड़े जागरुक दिखाई पड़ते हैं। पर वास्तव में यह उनकी अपनी ही मनोदशा है, या कहो, उनकी भावना की ही प्रतिक्रिया है। ओछा व्यक्ति महान् कर्म करनेवाले व्यक्ति को ओछा ही समझेगा और अच्छा कर्म करनेवाला ओछे व्यक्ति की बात को आवश्यकतानुसार घृणा की ही दृष्टि से नहीं देखेगा। वह चुप था, पर उसके मानस में द्वन्द्व चल रहा था। वह सुधा को बुरा समझ रहा था। सुधा बुरी नहीं है, नितीन बुरा ही नहीं है, नीच है, उसका कृत्य उसे बहुत अशोभनीय प्रतीत हुआ तभी तो सुधा... और बुराई उसमें स्वयं जो थी। यदि उसकी चारित्रिक निर्बलता उसे न उकसाती तो वह सुधा से इस प्रकार संबंध न बनाता, पर सुधा यदि दृढ़ न होती तो? वह चरित्रहीन नहीं है, यदि कहीं कुछ शिथिलता है तो मेरी ही।

मकान पास ही था पर शैलेन्द्र की उलझन बहुत बड़ी थी। सुधा की भी होगी पर जय की उलझन इतनी उथली नहीं थी, उसका प्रारंभ वहाँ से था जहाँ सुधा और शैलेन्द्र की उलझनें समाप्त हो जाती हैं।

घर पहुँच कर सुधा ने देखा—भाई किसी महाशय से वार्ता में व्यस्त हैं, राजनीति की बात चल रही थी, शैलेन्द्र और जय उसी में शामिल हो गये पर उसे यह अच्छा अवश्य न लगा प्रत्येक समय यही राजनीति। और फिर कोरी बातें उसे पसन्द न थीं। आये दिन लोगों का जमघट वहाँ लगा रहता था। सुधा राजनीति के महत्त्व को जानती थी पर ऐसी राजनीति! यह होटलों और स्कूल कालेजोंवाली राजनीति है, जिसमें बातें अधिक और काम कम होता है।

उसने भोजन की सब व्यवस्था कर रखी थी। ठंण्डी चीजें एक बार फिर गरम हो गई थीं पर वार्ता समाप्त होने पर न आ रही थी। सुधा खीझ उठी। इन लोगों के लिये गृहस्थ जीवन का आनन्द नहीं है, घर नहीं है, इन्हें तो होटलों में पड़े रहना चाहिये।

लगभग ढाई बजे भोजन प्रारम्भ हुआ।

भोजन के साथ-साथ जो चीज जय को पसन्द आई वह थी बीरू बाबू की निश्छल भावना, यद्यपि उसमें पालिश नहीं थी, और सही बात यह है पालिश कुछ थोड़ी-सी देर को चकाचौंध में डाल सकती है, बस! कुछ लोग वहीं तक अपनी सीमा रखते हैं—कुछ लोग उसमें आगे पहुँचना चाहते हैं।

कुछ थोड़ी-सी देर के लिये भोजन की तन्मयता ने जय को बहुत-सी बातें याद दिला दीं, जैसे उसकी पुनरावृत्ति का श्रीगणेश हो, पर उसके आकार में प्रारंभ से ही अन्तर था।

उसने अनुभव किया—राधा उससे कह रही हो—'यह नहीं हो सकता अभी से आप ना करेंगे तो..'

'हाँ ठीक है, मैं जानती हूँ, आप सबको बना सकते हैं पर मुझे नहीं, यह एक और, बस एक।'

'...और नखरे आपको बहुत आ गये हैं।'

फिर उसने धीरे-से कहा था--'तभी तो यह हालत बना रखी है आपने।'

जय राधा के घर निमंत्रित था। निमंत्रित क्या, होटल की खाते-खाते जब ऊब गया तब एक दिन यह तय हो गया, वह आज सायं राधा के घर भोजन करेगा।

पर वह भोजन इतनी आसानी से नहीं मिलनेवाला था। लगभग आठ बजे एक आँधी का झोंका आया, सारे शहर में कुछ देर के लिये अन्धकार ने अपना अधिकार बना लिया। चौका-चूल्हा सब अस्त-व्यस्त हो गया।

जय ने राधा से कहा--'अब खाना कैंसिल। मेरे लिये फिर से खाना नहीं बनेगा। आज की जगह कल।'

'और मेरे खाने का क्या होगा--राधा ने उत्तर दिया था--'आज भी और कल भी। पर ऐसे जा नहीं सकते हैं आप।'

उस रात जय को दस बजे भोजन मिला, पर कितनी ममता थी उसमें। कोई प्रयोजन वहाँ था या नहीं? और यहाँ भी सुधा का क्या प्रयोजन हो सकता है? उसने एक क्षण को सोचा भर था।

'खाना अच्छा न बना होगा'--जब वह चलने को हुआ था तब राधा ने द्वार पर आ कर कहा था--'और आप जैसा खाते होंगे वह यहाँ कहाँ?'

'खाने का प्रमाणपत्र तुम्हारे पास है राधा'--जय ने हँसते हुए कहा था--'जानता तो था कि अपनी मधुरता के अनुरूप तुम्हारे द्वारा बनाया गया भोजन भी मधुर ही होगा, पर आज वैसा स्वाद भी ले लिया। तुम बहुत अच्छा भोजन बनाती हो--और यह बात किसी काम में तन्मयता रखने पर निर्भर है।'

'आप तो प्रशंसा करते ही रहते हैं, मुझे बनाते जो हैं, पर अब मैं आपकी सब बातें समझ गई हूँ।

बहुत देर तक इधर-उधर की बातें द्वार पर ही होती रहीं।

जब सुधा परसने के अन्तिम दौर का निर्वाह कर रही थी तब उसने देखा प्रोफेसर साहब मुग्ध मन जाने क्यों खोये हुए भोजन में तन्मयता से जुटे हुए हैं, तब उसने एक पूरी थाली में डाल ही दी, जय का ध्यान भंग हो गया।

'अरे!' यह क्या सुधा देवी, मैं तो भोजन समाप्त कर चुका था?'—उसने कहा।

'अभी कैसे'—फिर वह मुस्करा दी।

जय को अपनी दुर्बलता पर तरस हो आया। वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया था।

शैलेन्द्र और बीरू बाबू अपनी बातों में ही किसी बात पर जोर से हँस पड़े और जय भी।

भोजन के पश्चात् बीरू बाबू किसी आवश्यक काम से चल दिये, वैसे ही उन्हें बहुत विलम्ब हो गया था और सुधा का प्रस्ताव था शैलेन्द्र और जय वहीं विश्राम करें।

शैलेन्द्र ने आरामकुर्सी पर टिकते हुए एक प्रश्न जय से किया—'तुम्हारा इन ईसाइयों के बारे में क्या ख़याल है?'

जय को आश्चर्य था, यह प्रश्न शैलेन्द्र किस संदर्भ में और सुधा के से क्यों पूछ रहा है? उसने फिर भी उत्तर तो दिया। कोई भी धार्मिक मतवाद यदि वह शासन से प्रश्रय प्राप्त कर अपनी जड़ें मजबूत करता है तो वह नैतिक संगठन नहीं है अपितु वह शासन का एजेण्ट है, पहिले ब्रिटिश शासन में ईसाई इससे अधिक कुछ नहीं थे। आज भी यदि वही बात वे करते हैं, तब उन्हें समाप्त हो जाना पड़ेगा—पर यह बात यहाँ क्यों याद हो आई।

शैलेन्द्र इसका क्या उत्तर देता है, इसकी जिज्ञासा सुधा को भी थी, वह समझ रही थी शैलेन्द्र दा को जो बात मैंने उनके घर पर कही थी। वही अभी भी उनके मस्तिष्क में घूम रही है।

'वैसे ही पूछा—सुधा की एक सहेली है, मिस जेनी। मैं भी जानता हूँ, आज वे यहाँ आई थीं उनके साथ में उनका होनेवाला पति भी था जो विवाह के पूर्व ईसाई बनने को तैयार है, बस इसीलिये।'

बात संक्षेप में कही गयी थी, पर मार्मिक थी।

कुछ व्यक्ति इस बात को महत्त्वपूर्ण नहीं समझते किन्तु जय का विचार ऐसा नहीं था। उसने कहा—'जहाँ यह बात धर्म-परिवर्तन की—या स्वेच्छा से नैतिक आचार ग्रहण करने की है वहाँ तक किसी भी मान को उसमें आपत्ति नहीं हो सकती और हमारे देश में एक ही परिवार में एक व्यक्ति बौद्ध, एक व्यक्ति जैन, एक वैष्णव और एक शैव हुआ करते थे। यह उसका सबसे बड़ा प्रमाण है। किन्तु इतिहास कुछ और भी तो कहता है। बौद्धों को जब राजाश्रय मिल गया तब क्या हुआ? चंगेज खाँ भी तो बौद्ध था और इस देश को लूटने का श्रेय देश के भीतर और बाहर के बौद्ध दोनों को ही है।'

बात सर्व साधारण और इतिहास की दृष्टि से कही जा रही थी—पर वहाँ सुधा के प्रति घटनेवाली घटना की बात अपेक्षित थी।

शैलेन्द्र ने कहा—'तुम्हारी बात बिल्कुल ठीक है जय, पर व्यावहारिक दृष्टि से जो हो रहा है और इसके फलस्वरूप पश्चिमी सभ्यता के नाम पर जो सभ्यता इस देश में चल रही है, वह कहाँ तक ठीक है और सुधा का इस विवाह से बड़ा घनिष्ठ संबंध है।'

'नहीं शैलेन्द्र दा, है नहीं था।' सुधा ने बीच में ही टोक कर कहा—'और अब मुझे समझ में आती है कि मेरे हृदय में इस देश की पैतृक भावुकता न होती तो उसका बुद्धिवाद मुझे फुसला न पाता, पर जाने दीजिये, अपनी-अपनी करने की बात भी तो है, जो करेगा वह भरेगा।'

जय सुधा की मुखाकृति से पढ़ रहा था उस प्रतिक्रिया में भी शालीनता है, नारी में यह सर्वत्र है, और इसीलिये जब नारी की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखनेवाले व्यक्ति उसका मार्ग खोजते हैं, तब वे भूल जाते हैं, नारीत्व इसी शालीनता का नाम है, वहाँ जीवन सहानुभूति के लिये है, स्नेह के लिये है।

जय ने उन बातों में आधिकारिक ढंग से कुछ न कहा—अत्यन्त साधारण ढंग से बात समाप्त हो गई।

किन्तु इतनी बड़ी बात का यह कोई समाधान तो नहीं था। भारतवर्ष के इतिहास में ही क्या संसार में यह क्रम नया नहीं है। धार्मिक मदान्धता के फलस्वरूप मनुष्य मनुष्य से दूर हो जाता है। उससे पशु अधिक अच्छे हैं, इस बात में। मनुष्य का विभाजन इस रूप में क्यों हो, ये सब आधार उसके हृदय को अधिक भावुक, अधिक सहिष्णु बनाने के लिये हैं, प्रत्येक महापुरुष ने यही सोच कर यह किया है, पर उनके अनुयायी कैसे हैं, शायद इसी में उनका स्वार्थ भी तो निहित रहता है। धार्मिक कट्टरता और वह भी साउद्देश्य तब वहाँ प्रतिकार करना अनिवार्य है। करना चाहिये, वहाँ नैतिक बात उतनी नहीं है जितनी जीवित रहने, बात है की यह लोग क्यों भूल जाते हैं। आपकी उदारता विरोधी बल को अधिक बढ़ाती है।

सुधा ने यह अच्छा किया या बुरा, जय सोच न सका, उसका विचार था यदि सुधा उसे अपने स्नेह से बाँधे रहती तो ऐसा नहीं होता।

पर उसका अनुमान कितना गलत था, शायद वह नितीन को जानता हो नहीं। और ऐसे व्यक्तियों की आज के इस संक्रमण युग में कमी नहीं है। सुधा से उसका दूर होना इसी बात का प्रतीक है, वह नेह नहीं चाहता, और कुछ चाहता है, ऐसा कि वह उसके साधन की चिंता नहीं करता। कोई भी साधन अपना कर वह साध्य पूर्ण करना चाहता है।

शैलेन्द्र ने अपनी बात कही।

'पश्चिम की यह समाज व्यवस्था कैसी है, यह एक बड़ा प्रश्न है। विवाह का यह तरीका, पसंदगी का आधार, और सब बातें, पर जय! क्या पुराना सब कुछ इतना कट्टर नहीं है कि जीना हराम हो जाता।'

यद्यपि शैलेन्द्र की बात का सीधा संबंध ईसाई समस्या, नितीन का विवाह और सुधा के प्रति होनेवाले व्यवहार से नहीं था; पर उससे अन्य बात जुड़ी हुई जय को प्रतीत हुई।

उसने कहा—'यह बात ठीक है। यह काल संक्रमण-काल है, पर प्रत्येक समय संक्रमण में से गुजरता है, हमें स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये कुछ परिवर्तन अपने यहाँ करने होंगे; पर सुधा देवी! ठीक ही हुआ ऐसे व्यक्ति का आपसे संबंध नहीं हुआ।'

'हाँ, हाँ !'--और पता नहीं इतनी देर को गंभीरता हँसी के कह-कहों में कहाँ विलीन हो गई।

विषय बदल गया। जय ने पूछा--

'यहाँ मनोरंजन के लिये सबसे उत्तम सिनेमाघर कौन-सा है ?'

सुधा ने तुरन्त उत्तर दिया--'डि-लाईट, कल देखा था न आपने।'

शैलेन्द्र ने बात को पूरा किया--'आज सायंकाल का प्रोग्राम वहीं ठीक, पिक्चर...?'

'डिलाईट में'--सुधा ने कहा--'फेरी चल रही है।'

'हाँ, हाँ, फेरी अच्छी पिक्चर है'--शैलेन्द्र ने अपना आग्रह पूर्ण किया।

'तो आज सायंकाल वहीं सही। पर आप...सुधा देवी !'

जय ने प्रश्नवाचक दृष्टि से देख कर कहा।

'मैं आपका साथ क्यों नहीं दे सकती ?'.--सुधा ने मुस्कराते हुए कहा--'यहाँ तो यहाँ आप बुलायें तो पूना भी नहीं छोड़ी जा सकती।'

'बिना बुलाये तो नहीं'--शैलेन्द्र ने हँसते हुए कहा--तभी यह तय हो गया है कि वे लोग सायंकाल सिनेमा जायेंगे।

जय को चाय भी सुधा के साथ पीनी पड़ी। शैलेन्द्र की इच्छा भी थी, किन्तु अभी भी प्रत्येक एक-दूसरे के संबंध के विषय में सतर्क था। किसका किससे क्या संबंध है और कौन किसके निकट है--अधिक निकट, यह तोला जा रहा था पर हार के लक्षण शैलेन्द्र पर अधिक थे। सुधा पर सहवास का निखार था और जय के लिये यह भार कोई नया नहीं था। वह सोच रहा था--

'इस सौन्दर्य की झिलमिलाहट के अन्दर क्या है ? छल, प्रवंचना, प्रतारणा--या स्नेह, सौन्दर्य और सुख ! सौंदर्य इतना भयंकर क्यों है ? जितना श्रेष्ठ सौन्दर्य उतना ही प्रतिकार से पूर्ण। पर नहीं, यह सही नहीं है। सुन्दरता उनके लिये प्रतिक्रिया है जो उसका भोग करते हैं पर पुष्प की पंखुड़ियों की भाँति क्या वैसे ही बिखर जाना जीवन है ?

ग्यारह . . .

प्रत्येक बात के दो पहलू हैं। तर्क के द्वारा दोनों की ही पुष्टि की जा सकती है। एक दृष्टिकोण ऐसा भी है जो दोनों में सामंजस्य खोजना चाहता है। पर सामंजस्य है कहाँ, समझने भर के लिये है। व्यक्ति अपनी बात को पकड़ कर रखना चाहता है, समय को बाँधता है, पर स्वयं बँध जाता है समय से। पीछे रह जाता है दुनिया से। किन्तु क्या प्रत्येक आगामी चरण अच्छा ही है, उसका पक्ष अच्छा ही क्यों होगा, बुरा क्यों नहीं ? क्यों नहीं हो सकता बुरा ?

और अच्छाई-बुराई शुरू कहाँ से होती है। क्या जो बुरा दीखता है वह बुरा है ? या कोई दृष्टि ऐसी ही होती है जिसे बुराई छोड़ और कुछ दीखता ही नहीं है। जय कुछ दिन अपनी प्रत्येक बात को अपराध की कोटि में रख लिया करता था, किन्तु वह उसे अपना दृष्टिकोण नहीं मान पाया। अपराध ! हाँ अपराध, राधा के जीवन से अपनी निश्चेष्ट श्वासों का संबंध ही उसका अपराध था। शरीर की भूख तो थी नहीं। भूख की तृप्ति के लिये तो पूर्व से ही रानी थी, सुन्दर-सुडौल सौंदर्य बनी कामिनी। और उस अबोध मन में नारी के चरित्र की बात कितनी प्रबल थी। रानी का उससे विवाह हुआ था तब रानी कुमारिका थी, वही उसका मंगल था, वही दूर्वा सदृश्य मंगल-घट जिसे कुमारिका अपने आराध्य पतियों को सहर्ष समर्पण कर देती है और वह स्वयं भी तो वैसा ही था। तेज युक्त, पवित्र और ब्रह्मचर्य के आदर्श से अनुप्राणित। जैसे उसने नारी के विषय में विवाह के पूर्व कभी कुछ सोचा ही न हो और विवाह के पश्चात् प्रेम को राधा की अनुभूति ने जब उसे चौंका दिया, तब उसे अनुभव हुआ कि यह उसका अपराध है। राधा कुमारिका है और मैंने एक नारी के यौवन के साथ कितनी रंगीन रातें बिताई हैं, कितने सुमधुर स्वप्न उन मसृण भुजमूलों में उलझे रहे हैं, कितनी उष्मा थी उन श्वासों में वह बसंत का सुधा बरसाता-सा चन्द्रमा उसके जब निकट ही होता तब, बिल्कुल पास ! अद्वैत !

क्या राधा रानी का वह अधिकार छीनना चाहती थी, नहीं बिल्कुल नहीं। राधा अविवाहित वैधव्य जीवन की ओर क्यों झुक गई ? आखिर क्यों ? क्या उसकी कल्पनाओं का आधार मैं था। मैं, जिसने नैतिक ईमानदारी से एक नारी का हाथ पकड़ा है, जो मेरे विश्वास पर अपनी जीवन-नैया को खेये जा रही । राधा को शरीर के स्पर्श से घृणा है, वह नहीं चाहती--अब कोई उसके शरीर को स्पर्श करे।

सुधा के घर से लौटने के पश्चात् से ही ऐसे अन्तर्द्वन्द्व में जय का मन उलझ गया था। क्या जो राधा के साथ हुआ वह सुधा के साथ तो न होगा ? सुधा का बाह्य ठीक चुम्बक की भाँति खींचनेवाला जैसे उसका शरीर किसी विशेष व्यक्ति के स्पर्श के लिये नहीं है, वहाँ कौमार्य की पवित्रता कहाँ ?

जय यद्यपि यह बात मानने को तैयार नहीं था पर सुधा में वह उच्छृंखलता क्यों थीं, वह जो ऊष्मा है, खींचती है, गर्म श्वासों के आदान-प्रदान-सी गर्म है। जय उसके व्यवहार के प्रति बहुत सजग है, और इतने अल्प समय में परिचित नारी उसके निमंत्रण पर पूना पहुँच सकती है, उसका हृदय एक बार काँप गया ! यह सुधा से कोई संबंध नहीं बना सकता, सुधा साध्वी नहीं, कुमारिका नहीं, पतित सौदा करने वाली...छिः छिः ! अनेक विचार ऐसे ही जब जय के मस्तिष्क में घूम गये तब उसे ध्यान आया कि उसने यह सब कैसे सोच लिया, जिसका सोचना उसके लिये शोभनीय नहीं है।

तब घड़ी के घंटे ने सूचना दी, छः बज गये हैं। शैलेन्द्र तैयार होकर आ गया था पर जय अभी अपने में ही मस्त था।

'क्या हो रहा है फिलास्फर साहब ? सुना आपनें छः बजे हैं, सिनेमा चलना है, जगह जरा दूर है।'

'सिनेमा ! मैं सिनेमा नहीं जा पाऊँगा शैलेन्द्र । देखो मेरी तबीयत..'

'अभी, अभी। ओ हो।' हाथ देखते हुए शैलेन्द्र हँस दिया--'तुम्हें कुछ भी नहीं हुआ है, और यह सुस्ती तुम्हारे मन की है। सुधा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही होगी।'

'सुधा !'—जय ने उसी ध्वनि में कहा—'तुम नहीं मानोगे ।'

'नहीं मानूँगा बिल्कुल नहीं ।' शैलेन्द्र ने जय के दोनों हाथों को थाम लिया—'उठो तैयार हो जाओ । ये बातें अब अच्छी नहीं लगतीं ।'

जय व्यस्त था, अस्त-व्यस्त भी । आखिर उसे हार जाना पड़ा और ऐसी मनहूस सूरत लेकर वह कैसे जाये इसलिये तैयार हुआ ? कविताओं की अनेक पंक्तियाँ दोहराता रहा, तब अपनी सुस्ती दूर कर सका ।

सुधा प्रतीक्षा कर रही थी । शैलेन्द्र का अन्दाज सही निकला । आवाज भी नहीं लगानी पड़ी । सुधा के सौंदर्य का यह निखार इसके पहिले शैलेन्द्र ने नही देखा था—जय को भी ऐसी कल्पना नहीं थी । सुधा ने अपने आपको आधुनिक तरीकों में सम्हाला था । आसमानी रंग की साड़ी, और उसी रंग के ब्लाउज में उसका चन्द्र-सा मुख अपने पूरे विकास पर दमक रहा था । केवल वस्त्रों के पहिनने की कला थी । बालों की बनावट भी सादा किन्तु आकर्षक ही ।

पर जय इसके विपरीत देख रहा था, सुधा के हाव-भाव को, उसके क्षण-क्षण के परिवर्तन को । प्रातःकाल सुधा के मुख पर गम्भीरता थी, सन्ध्या को उन्माद ! और कल जो सुधा बावली थी, वह आज अभी क्यों तीनों स्थितियों से भिन्न है ? कितना मिश्रण हुआ है सुधा में । आवरण और अलंकरण भोग की ओर खींचते हैं, शरीर की मादकता अपनी ओर और आँखों का मद हृदय के पास । फिर भी उसके संपूर्ण जीवन की शालीनता इस बात को संकेत करती थी, यह सब कुछ सुधा नहीं है, अधिक गंभीर है वह । आसान नहीं है ।

उसने कहा—'चलूँ, प्रोफेसर साहब ! आपके साथ चलने के लिए मुझे ये उपकरण जुटाने पड़े । कहाँ आप इतने गंभीर और कहाँ मैं ?'

जय ने मुस्करा कर उसका स्वागत किया । शैलेन्द्र ने कुछ नहीं कहा, पर चाहता था कह देता—इसके साथ स्मृति न जुड़ी रहे तो अच्छा—पता नहीं कितनी स्मृतियाँ इसमें न जुड़ी हों ।

बात कटु थी, एक प्रतिक्रिया थी, जो शैलेन्द्र को अस्थिर कर रही थी, वह सुधा को जानता था, और स्वयं सुधा ने अपने संबंध की बात

शैलेन्द्र से कही थी। उसका शरीर जो आज कमल के समान प्रफुल्ल और पराग-केसर के समान महक रहा था, क्या बिल्कुल निर्मल है। यह नहीं हो सकता। और आज सुधा का व्यवहार क्या जय को विभ्रम में तो न डाल देगा।

क्यों नहीं, कहाँ से कौन और कब न च्युत हो जायेंगे। मनुष्य के बने रहने तक की बात है उसके बाद वह बदला हुआ प्रतीत हो सकता है पर जय ऐसा नहीं है। उसके जी में आया, एक बार फिर से वह जय को संकेत कर दे, जरा सम्हल के भाई! पर उसने कुछ नहीं कहा। अपनी इस एकांतिक शून्यता से ऊब कर ही वह रह गया। सुधा ने जैसे उसका आतरिक द्वन्द्व पढ़ा हो।

'चलो भी, शैलेन्द्र दा! भाई घर में नहीं है, आज वे घर नहीं आवेंगे, गाँवों में जाना है'—कहते-कहते सुधा ने द्वार बन्द कर दिये।

टैक्सी मिलने तक पैदल ही चलना पड़ा।

शैलेन्द्र सोच रहा था, पहिले का नारी जीवन कितना ऊँचा था, अब कैसा हो गया। पर फिर भी पहिले के व्यक्ति पिछड़े हुए कहे जाते हैं। वास्तव में पिछड़े हुए तो थे ही। जिसने जीवन में भोग न किया हो वह भोग के प्रति अपने अनुभव प्रकट करे तो उसका क्या अर्थ होगा? और आज सब भोग है, उसी के लिये उपकरण हैं, आज नारी की यह चतुरता मानी जाती है, पर पता नहीं उसे यह सब क्यों अच्छा नहीं लगा?

'भाई कहाँ गये हैं?—पूछा गया।

'कुछ पता नहीं, दा! सुना है कहीं फिर से चुनाव हो रहा है, और जो चुनाव में खड़े हुए हैं वे उनके अच्छे मित्र हैं, रईस भी है, अब तो शायद महीनों वहीं रहना पड़ेगा...।

'बाहर घूमना तो उनका स्वभाव हो गया है, प्रो० साहब!' उसने जय की ओर देखते हुए कहा—'जैसे आप!'

'मैं तो बहुत कम निकल पाता हूँ, बहुत कठिनाई के साथ, पर राजनैतिक लोगों से मेरी क्या तुलना? अगर घर से बाहर रहना पड़े वे

वहाँ भी खुश हैं और घर के भीतर तो वहाँ भी। उनके और मेरे तरीके अलग-अलग हैं सुधा देवी ! मैं राजनीति की दासता स्वीकार नहीं करता यद्यपि उसे हेय नही समझा जा सकता।'

सुधा ने समझा प्रोफेसर साहब वास्तव में हर समय ही गंभीर रहते है, उसने बात इतनी गंभीरता से भी नही कही थी और न वह इसका उत्तर चाहती थी। उसकी मुद्रा में केवल जय का नाम निकटता के प्रतीक के रूप में जुड़ना भर था। फिर भी उसे ऐसा नहीं लगा कि जय से बातें कम की जावें।

और जय कुछ सुस्त हो गया था। वह बहुत प्रयत्न कर रहा था, बिल्कुल साधारण और सरल व्यवहार करने का पर कह कहाँ पाता था, उसने बात को रोचक ढंग से कहना चाहा।

'सुधा देवी, समय नही है नही तो हरद्वार तक मैं भी घूमना चाहता था। पूण्य तीर्थ जो है, सुना बहुत है, बड़े-बड़े पापी वहीं रहते है जिनको तारने की...'

'शक्ति वहाँ पर है। ठीक है !' शैलेन्द्र ने बीच मे ही कहा—'पर तुम्हें क्या आवश्यकता पड़ गई ?'

सुधा बोली—'वह तो दा, प्राइवेट बात है, क्यों न प्रोफेसर साहब ?'

और फिर विनोद का वातावरण जैसे लौट आया हो।

सिनेमा देखना जय को प्रिय नही था। ऐसी बात नही है कि उसने कुछ नैतिक विरोध मान रखा हो पर वास्तविक रूप में बहुत कम चित्र ऐसे होते हैं जिनका जीवन की वास्तविकता से संबंध रहता है; और यदि केवल मनोरंजन ही मान लें तो वह भोंड़ा और अरुचिकर मनोरंजन प्रस्तुत करता है। कुछ चित्र-पट बहुत सुन्दर बने हैं, पर अधिकांश बिल्कुल असुन्दर। फिर जिस उत्साह से जय सिनेमा में प्रवेश करता था उतना ही निरुत्साह लौटने के पश्चात् उसे मिलता। वहाँ भी जय की यही स्थिति थी पर जय किन्हीं व्यक्तियों के साथ था, इसलिये भी कौतूहल सिनेमा का नहीं, उनका था। उन सबका, सुधा का भी।

पुरुष स्त्री में यह विषम समता कैसी ? उसके अस्तित्व भर से मन क्यों सोचता है और उसके चले जाने के बाद यह सोचना और बढ़ जाता है। यह विरोध दोनों में क्यों है ? कौन खींचता है, मधुमय भार से बोझिल ! और क्या यह जीवन रुक्ष, साधन को नकारात्मक अभिव्यक्ति है ? सुधा के साथ जय ऐसा क्यों हो जाता है, वह अनुमान लगाता है, दूर तक, पर उसके हृदय में उसके प्रति कोई घृणा क्यों नहीं होती ? संसार की बातों से उसे मिलाना चाहता है, पर उसके पास वह दृष्टि ही नहीं जो उस रूप में किसी को देख सके।

वे लोग ठीक समय पर वहाँ पहुँचे। शैलेन्द्र ने बालकनी के टिकट खरीदे थे। सिनेमा-घर वास्तव में बहुत सुन्दर बना हुआ था। किसी राजप्रासाद से कम नहीं था, पर सब ढंग अंग्रेजी था। और अंग्रेजी होता क्यों नहीं ? आज सौन्दर्य और आनन्द के सब सुन्दर प्रसाधन वहीं से हमें प्राप्त हुए हैं, हमारे अपने प्रसाधन इस गुलामी के अन्तराल में प्राय धुँधले हो गये हैं।

सुधा ने आश्चर्य और विनोदी मुद्रा में जय से पूछना चाहा--'डिलाइट जैसा मैंने कहा था वैसा ही है।'

'बहुत सुन्दर है।'

फिर एक साथ कदम से कदम मिला कर वे लोग सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। सुधा की निकटता का जय स्वागत नहीं कर पा रहा था, पर दूर होना विरोध का प्रतीक तो भी होगा; इसलिये वह भी उसके उतने निकट चल रहा था। सुधा के एक ओर जय और दूसरी ओर शैलेन्द्र। कभी सुधा शैलेन्द्र की ओर बीच बीच में देख लेती पर जय की ओर देखना किसी दूसरे संकेत की सूचना करना था और तब जय को उसी मुस्कान के साथ उसका स्वागत करना पड़ता था।

और अब जैसे बातें कम ही हो रही थीं। वार्ता से हट कर संकेत ही अभिव्यक्ति का प्रकार हो गया था। जब हृदय अपनी बात कहना चाहता है, तब बाकी का अवरोध उसे स्वीकार नहीं होता।

जय की साहित्यिक अनुभूति जाग रही थी। उसने कहा—'सुधा, यदि जीवन इतना ही होता सौंदर्य और शालीनता का अंकलन होता, तब कितना सुन्दर होता! पर सुन्दरता के इस पर्दे में क्या अन्य धरा कोई धन है?'

अपने-अपने स्थानों पर बैठते हुए सुधा ने जय की मुखाकृति को पढ़ा। 'पर ऐसा हो नहीं पाता, प्रोफेसर साहब!' वह बोली। जय ने कुछ नहीं कहा पर सोचता रहा—

मानव जीवन वेदी पर,
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुःख दोनों नाचेंगे
हैं खेल आँख और मन का।

पिक्चर प्रारम्भ हो गया था, हाल में अँधेरा हुआ तब ही सुधा ने अपने मद की समाप्ति की थी। उसका हृदय वेदना से भर आया था और शायद इस समय की वेदना, बड़ी गहरी थी। जय ने ऐसा क्यों कहा? क्या वे इस सुन्दरता को, यौवन के प्रसाधन को चाहते हैं तो सुधा मुझे भी? पर स्वीकार करने के पूर्व उनके हृदय का द्वन्द्व उन्हें विषाक्त वेदना से भर देता है।

वह स्थिर न हो सकी, पिक्चर की कास्ट समाप्त हो चुकी थी, फिर भी उसका मन स्थिर नहीं हुआ।

पर जय शायद अपनी बात भूल चुका था, भूला क्या? उसे हर बात पीने की आदत जो है, या कहो कोई-सी बात, कैसी-भी बात भुलाई नहीं जा सकती। जितनी गहरी पीड़ा होगी उतनी बाह्य शान्ति मिलेगी।

पिक्चर का प्रारम्भ बहुत सुन्दर था जैसे प्रत्येक उस सुन्दरता में अपने को डुबा कर देख रहा हो। हृदय के वेग के साथ चित्रपट भी बढ़ा जा रहा था, पर सुधा का अन्तरद्वन्द्व कम न हो पाया।

एक विकल उन्माद की पीड़ा से उसके तार-तार झंकृत हो रहे थे। जैसे उसका मन पिक्चर में लग ही न रहा हो। उसने जय की ओर

मुँह करते हुए धीरे से अंग्रेजी में कहा--"आई कान्ट रिजौइस' (मैं चित्र का आनन्द नहीं ले सकती)।"

जय वास्तव में चित्र देखने में तल्लीन था वह अचानक चौंक उठा--उसने अपने हाथ से सुधा के पार्श्व को हिलाते हुए कहा--'ऐसी क्या बात है सुधा देवी ?'

'कुछ नहीं, पता नहीं तबीयत अचानक ही कुछ खराब समझ में आ रही है'--उसने धीरे से कहा, तब उसका मुँह जय के मुँह के बिल्कुल निकट था।

फिर शान्त होते हुए बोल उठी--'नहीं, अब मैं ठीक हूँ।'

शैलेन्द्र इस बीच यह जानने के लिये परेशान हो उठा था कि सुधा को क्या हुआ ?

उसने पूछ ही लिया--'क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं अब ठीक हूँ।' सुधा ने कहा और उसने अपना एक हाथ जय की कुर्सी पर रख दिया।

जय अब प्रतिकार नहीं करना चाहता था। उसे अपनी दूरी भी कम कर देना पड़ा, जैसे उसके सब संकल्पों, गहनतम विश्वासों ने उसे मुक्त कर दिया हो, वहाँ उसने अनुभव किया कि एक पीड़ामय माधुर्य उसके चारों ओर छा गया हो और उसका अन्तर्मन उसमें डूब रहा हो। नारी ऐसी करुणामयी क्यों है ? क्यों मनुष्य के मन्तव्य में वह ऐसा मनोहर रूप-जाल फैलाती है उसे लौट आना पड़ता है ? जय ने एक क्षण ऐसा ही सोचा, पर यह बात उसे जँची नहीं। मनुष्य का मन्तव्य संसार छोड़ने का क्यों है, विराग का ही वह आकार क्यों है ? अनुराग और आनन्द का क्यों नहीं है और ऐसा आनन्द जो अधिक न हो। केवल सुख की परिधि को न छूता हो।

उसने अनुभव किया सुधा, सुधा नहीं है, राधा है, और राधा ही क्यों--रानी भी, सब एक हैं ? प्रत्येक अपनी परिधि तक कुछ चाहता है, चाहे वह भौतिक हो या पार्थिव भी; पर उनमें से प्रत्येक तुम्हारी भोग सामग्री क्यों बन जाना चाहिये। सामाजिक स्वास्थ्य के लिये जिस प्रकार

आहार-व्यवहार को नियम-बद्धता अपेक्षित है उसी प्रकार भोग की भी। पर प्रेम को इतना सीमित और संकुचित करने का अधिकार किसे है ?

सुधा के करुण-संकुल मानस को जय अपने स्नेह-स्पर्श से सान्त्वना देता रहा, उसको निश्चय ही जय की दृढ़ता पुलकित बनाये हुए थी। जय ने अनुभव किया, वह प्रत्येक प्राणी से प्रेम कर सकता है, नारी से भी और पुरुष से भी ! अपने स्नेह से प्रत्येक के कलुष को धो देगा। कर्म की जागरूक चेतना में मोह या बन्धन की क्या बात है ?

और सुधा ने सोचा, मुझे किसी का प्रेम चाहिये, जो हृदय की भावना का भी स्वामी हो और शरीर का भी। जहाँ मैं मुक्त होकर संसार के सुख को भोग सकूँ। घटना के अधीन हो जाऊँ। किसी के अधिकार में रहूँ और किसी पर अधिकार प्रदर्शित करूँ। प्रेम हो तो जीवन है !

उसने एक गहरी साँस ली। पुलक में दो-चार आँसू टपक पड़े। मध्यान्तर होते-होते सुधा ने अनुभव किया कि उसकी शारीरिक चेतना फिर लौट आई है, पर अंग-प्रत्यंग टूट रहा था। थोड़ा विराम लेने के लिये तीनों हो रेस्तराँ में जा बैठे।

सुधा ने बैठते ही चहकना प्रारम्भ किया--'शैलेन्द्र दा, आज कैसी मायूसी पहिले कभी नहीं आई थी, न जाने क्या हुआ ?' जैसे, इस बड़े अन्तराल में वह यह भी एक बात सोचती रही हो कि किस प्रकार से शैलेन्द्र को ऐसी-वैसी किसी कल्पना से दूर किया जावे। उसने आज पहिली बार यह अनुभव किया कि शैलेन्द्र उसकी निर्बलता से परिचित है, और अपने हृदय के एकांतिक समर्पण के पश्चात् वह यह और भी अनुभव कर रही थी कि वह यह भी जान गये हैं कि मैं जय से प्रेम करती हूँ। हाँ करती हूँ, खूब करती हूँ जब मैं और कुछ नहीं कर सकती --तब उसने दृढ़ता के साथ एक क्षण सोचा फिर कॉफी पीने में वे सब जुट गये, जैसे मानसिक अस्वस्थता को दूर करने के लिये इन पेय पदार्थों का भी कुछ योग है।

जय ने कहा--'पिक्चर अभी तक तो काफी अच्छी है। बाल-मनोविज्ञान का चित्रण लिया गया है।'

शैलेन्द्र ने भी हाँ में हाँ मिला दी। पर अभी भी उसके कानों में सुधा का वह वाक्य गूँज रहा था, जिसमें उसकी बात का उत्तर इतनी देर पश्चात् उसे मिला था। उसका विश्वास था, सुधा जय पर आसक्त है, और उसी को छिपाने के लिये उसने यह बात उससे कही जा रही है। पर जय सुधा से प्रेम नहीं करता, यह धारणा उसके मन में जाने क्यों बद्धमूल हो गई थी और तब वह सुधा की बात ध्यान से सुन रहा था जैसे वह अन्जान बनना चाहता हो।

उसने बड़े जोर से कहा--'कुछ भी हो भाई! अगर पिक्चरें न होतीं तो हमारा क्या होता? जय, सच बताऊँ, कालेज के बाद मनोरंजन का कोई और स्थान है तो सिनेमा, और मनोरंजन भी कैसा सस्ता! सस्ते दामों में सस्ती चीज।'

'पर सस्ती चीजों से क्या मन नहीं ऊबता?'--जय ने पूछा।

'नहीं तो प्रोफेसर साहब, मन हो जब। अरे! मन तो कहीं गिरवी रख दिया गया है, क्यों न शैलेन्द्र दा?'

बात साधारण ढंग से कही गई थी पर थी मार्मिक।

'मन कभी न कभी और कहीं न कहीं गिरवी रख देना ही पड़ता है सुधा देवी, इसमें बेचारे शैलेन्द्र का ही कौन-सा दोष है। पर है भाई ऐसे मन की बात नहीं कर रहा हूँ।'

बात समाप्त हो गई और पिक्चर शुरु होने की सूचना भी मिली तब तीनों ही कुर्सियों पर से उठ पड़े।

सुधा की भावभंगिमा असाधारण थी, दर्शकों की आँखें उस पर ठहर ही जाती थीं, पर वास्तव में सुधा इन दो दिनों से उस क्षण जितनी रूपवान दीख रही थी उसकी चमक से जय का हृदय उद्वेलित हो जाये तो क्या आश्चर्य--शैलेन्द्र ने हाल में प्रवेश करते हुए सोचा। वह सबसे आगे था, बीच में सुधा और उठने-बैठने वालों की असुविधा से जय सबसे पीछे था जैसे छूट जाना चाहता हो। और मनुष्य छूटना कब

चाहता है ? जब बँधता है या बँध जाता है। वह किस विद्युत शक्ति से बिंधा जा रहा था, इसका आभास उसे द्वार पर ठिठकते हुए हुआ और तब ही उसने सोच लिया। यह आकर्षण क्या है ? यह अपनी ओर खींचने की वृत्ति है क्या ?

विद्युत तंतु खींचते हैं, जैसे आत्मा की चेतना स्पर्श ग्रहण करती है, यदि तन्तु बलशाली है, चेतना वहीं नत हो जाती है, मर जाती है, मर जाती है ? जय प्रेम के आकर्षण को अपने वैज्ञानिक टाँके में कुछ समय से ढालता आ रहा है और प्रत्येक नया अनुभव उसे अपनी पुष्टि के लिये मिल रहा था। यह आकर्षण बुरा-अच्छा उतना नहीं है जितना इसका होना है। आत्मा के विद्युत तंतु एक दूसरे से स्पर्श करते हुए अनन्त में फैले हुए हैं, संपूर्ण जड़ तथा चेतन सृष्टि में फार्म में या एक्ट्रेट में। जहाँ बलशाली और पूर्वापर होते हैं वहीं खिंच जाते हैं। खिंचना और छूटना दोनों स्वाभाविक है।

एक स्थिति ऐसी भी होती है जहाँ प्रेम और घृणा दोनों को ही देखा जा सकता है। वहीं चेतना का विस्तार हो जाता है।

'सुधा वास्तव में विचित्र है, विचित्र ही नहीं, यदि वह आकर्षित न करे तो यही एक विचित्रता होगी।'—जय ने सोचा।

पर उसकी आत्मा में एक ही अनुभूति सतत जागरूक हो गई थी। सुधा ऐसी ज्योति नहीं है जो एक बार जलती है और फिर बुझने तक जलती ही रहती है। सुन्दरता की ज्योति के लिये बुझना और जलना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। यह स्थिति उर्ध्वगामी जड़ता की नहीं है अपितु अधोगामी चेतना की है। अपने संस्कारवश यदि अनेक व्यक्तियों से इसका सम्पर्क है तो वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

द्वार से अपने स्थान पर पहुँचते-पहुँचते जय को पर्याप्त समय लग गया, जब पहुँचा तब हाल में अँधेरा हो चुका था। शैलेन्द्र ने कहा—'क्यों भाई, क्या हो गया था ?'

'कुछ नहीं ऐसे ही देर हो गई।'—अपनी सीट पर बैठते हुए जय ने कहा।

सुधा कुछ न बोली।

चित्र देखते-देखते एक बात सुधा के मस्तिष्क में घर कर गई थी--शायद जय मेरे विषय में कुछ नहीं जानते इसलिये मुझसे दूर भागते हैं। मेरी जाति, धर्म, व्यवस्था और प्रान्त कुछ भी नहीं। पर आज का युग वैसा नहीं है।

उसका द्वन्द्व प्रारम्भ था। वेश्या के रूप में प्राप्त रमणी को चित्र का नायक स्वीकार कर भी लेता; पर समाज...व्यवस्था ?

वह एक बार पुनः सिहर गई।

उसने जय से कहा--'प्लीज़!' (मेहरबानी करके सुनो) तब वह निस्संकोच थी। अँधेरे में जय ने सुधा की ओर मुख कर लिया पर आकृति अँधेरे के कारण अस्पष्ट थी।

'क्या बात है ?'

'आप कब जा रहे हैं ?'

'कल, पर इस समय कैसे याद आई ?'

'कुछ नहीं, मैं जानना चाहती थी, समाज की रुढ़ व्यवस्था के प्रति जो वर्तमान में है। उस पर आपका क्या मत है ?'

'पिक्चर देख कर'--जय ने मुस्कराते हुए कहा।

सुधा ने जय की कुर्सी पर रखा हाथ अपने दोनों हाथों में थाम लिया। उसने कहा--

'गलत नहीं समझना आप, वैसे ही।'

शायद वे दोनों भूल गये थे, आसपास उनके कोई और बैठा हुआ है।

सिनेमा से लौटने पर कोई विशेष बात न हो सकी। सुधा भी न पूछ सकी। और जय बिना पूछे क्या उत्तर देता।

इधर उधर की बातों में रास्ता तय हो गया।

ताँगा सड़क पर आकर रुक गया। सभी वहीं उतर पड़े। सुधा ने कहा--'भोजन अब होटल में कहाँ होगा, अभी तैयार हो जायेगा ?'

'नहीं सुधा देवी, अब भोजन नहीं होगा।'

'हाँ सुधा'--शैलेन्द्र ने कहा--'भोजन आज कितनी देर से किया है। अब आराम करो। वैसे भी कम थकी न होगी तुम।'

'सुबह ट्रेन बहुत जल्दी जाती है। क्या टाइम है शैलेन्द्र, जी० टी० का ?'

'कल जाना ही है ?'

'हाँ, सुधा देवी !'

शैलेन्द्र ने टोक कर कहा--'जैसे एक दिन वैसे दो दिन।'

'नहीं भाई, तुम जानते हो घर पर मेरी प्रतीक्षा हो रही होगी। और एक बात है, जून में ही पूना वापस चले जाना है।'

सुधा कुछ न बोली। उसके मन का द्वन्द्व समाप्त नहीं हुआ था, आज के समाज में क्या सब रुढ़ियाँ बहुत आवश्यक हैं। ये सब गलत है, ठीक वैसे ही जैसे पुराने घोड़े पर नई जीन और उस पर पुराने कपड़ों में नया सिपाही। सब बे-मेल !

उसके परिवार में प्रारम्भ से समाज के इस बंधन से मुक्त हो कर सोचने की आदत थी। न माँ ही सोचती थी और न भाई। जाति-बिरादरी भी नाम मात्र को थी। अति आधुनिक कोटि में सोच कर भी सुधा को आज यह भान हुआ। दूसरे उसके विषय में क्या सोचते हैं, सोच सकते हैं ?

वहाँ खड़े-खड़े ही समय व्यतीत होने लगा। कोई जैसे वहाँ से विलग नहीं होना चाहता था, पर ठहरने और बैठने का अवकाश भी नही था।

'अच्छा सुधा देवी--आज्ञा दीजिये। आपके इस सहवास के लिये, मैत्री के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद। कभी पूना आइयेगा।'

'धन्यवाद तो मैं शैलेन्द्र दा को दूँगी। आपसे परिचय पाने का सौभाग्य मिला और आप केवल धन्यवाद देकर मुक्त नहीं हो सकते प्रोफेसर साहब।'

'शायद सुबह न भेंट हो सके। कभी लिखियेगा--वैसे मैं पत्र लिखने का आदी नहीं हूँ फिर भी।'--चलने का उपक्रम करते हुए जय ने कहा।

शैलेन्द्र ने कहा--'चलो भाई, कुछ आराम तो कर लो। अच्छा सुधा ।।'

सबने एक साथ ही नमस्ते की। और सुधा अपने मकान में प्रवेश लेने के लिये आतुर हो उठी। अब वह अधिक थक गई थी। थकान तो पहिले ही उसके शरीर पर अपना प्रभाव जमा चुकी थी पर अभी तक उसकी वार्ता में चेतना का संकेत था।

सुधा ने बैठक में पहुँचते-पहुँचते अपने श्लथ शरीर को आराम-कुर्सी के अंक में बेसुध हो डाल दिया। जैसे वह तन्मय हो कर अपनी किसी मानसिक चेतना का संबंध शरीर विरत हो किसी की चेतना से जोड़ रही थी, किसी की चेतना क्या? प्रोफेसर साहब की चेतना के साथ।

हाँ, उसने पैर से दूसरी कुर्सी खींच ली, जैसे उसके पैर आश्रय चाहते हों। भुजाओं को फैला कर कुर्सी के दोनों हत्थों पर लापरवाही से वह लेट गई। वह अपने मूड में क्यों खोई जा रही है, इसका असमंजस स्वयं उसे भी था।

कुछ क्षण मौन रह कर उसने कोने में कपड़ों से ढकी सितार उठा ली।

सुधा ने सितार तो उठा तो ली थी किन्तु जैसे वह उसे एक बार स्पर्श करते ही काँप गई। सितार उसने कितने ही दिनों से नहीं बजाई थी। बजाई क्या थी? उसने एक दिन अपने आवेश में उसके तार तार तोड़ डाले थे। नितीन से विरत हो कर वह अपनी कलाओं से भी विरत हो चुकी थी। घंटों जिस सितार पर बैठ कर वह तन्मय हो जाया करती, उसी सितार को उसने कभी न बजाने की कसम खा ली थी।

और फिर आज वही सितार उसके हाथों में थी।

जिसका एक भी तार अपनी जगह ठीक न था।

उसे लगा जैसे वह जो कर रही है, सब एक छल है, आत्मवंचना है, किसी नाटक का दूसरा प्रयोग है। जो तार टूट गये वे फिर कभी जुड़ सकते हैं, उनमें से कुछ ध्वनि निकल सकती है? कैसी भी क्यों न हो?

उसने तर्क किया। 'तार टूटे कहाँ, बदल लिये हैं, मैं दूसरे तार सितार में बदल दूँगी। फिर क्यों न बजेगी सितार। और..'

सुधा को क्या हो गया था? उसका मन उसके अधीन नहीं था। अप्रतिहत-सी! उसने सितार रख दिया, अन्जान और मूक। वह तर्क से अपने इस तथ्य को सुलझाने में उलझ रही थी, यदि वह इस स्वीकार न करे तो वह क्या करे? समाज की संज्ञा उसे दबोच डालना चाहती थी।

'मैं ईमानदार हूँ इसलिये। जो बेईमान और कृत संकल्प हैं--उनके लिये तो मैं आज भी निम्न नहीं हूँ। नारी हूँ! नारी हूँ न? भोग्या, मनुष्य अपनी इच्छा से उसे नचाता है। मुझे भी नाचना पड़ता है, पर अब नहीं। लेकिन जय ऐसा नहीं है। और मेरा वह है कौन?'

'कोई नहीं। मेरा उसका कोई संबंध नहीं है, कोई रिश्ता भी नहीं। कल की पहिचान और आज दाँत-काटी रोटी की मित्रता, गलत है, बिल्कुल गलत।'

उसकी मानसिक व्यथा बढ़ रही थी। उसे लगा--वह यह क्या सोच गई?

वह अब कुछ स्वस्थ थी। उसने अपना बिस्तर उठाया। पलंग पर लगा लिया। पर नींद आँखों से दूर जा चुकी थी।

उसने अपने आपसे कह डाला--'क्या सत्य इतना भयंकर होता है? मेरी पहुँच की सत्यता इसी बात में है। मैं स्वयं जय से कह दूँ। मैं और वे...पर यह कोई आवश्यक नहीं है। आवश्यक बिल्कुल नहीं है, जय!'

वह इसी बात को दुहराने जा रही थी।

'वही क्रिया। वही शारीरिक समर्पण, मानसिक दैन्य। आर्थिक विभीषिकाओं और फिर सामाजिक अत्याचार। निर्बल के प्रति कब बलवानों के इस समाज ने दया की है? जो जिसको हथिया सके, वही उसका है, उसके लिये समाज है, जाति है, धर्म है, बिरादरी है, सगे-सबंधी हैं।

'नीतिकार उसी के लिये तर्क करते हैं, धार्मिक उसी का जय-जयकार करते हैं और राजनैतिक उसी क्रिया के शिकार हैं। ओह !

जीवन से जीवन की घटना का अधिक महत्त्व है, उसने अनुभव किया। समग्र जीवन की सफलताओं-असफलताओं यद्यपि घटनाओं पर ही आधारित है फिर वही उसका शानदार अन्त भी है, उसी की चरम सफलता है। घटना होना स्वाभाविक है, साधारण भी।

उसकी मानसिक शक्ति थक चुकी थी, वह अब कुछ अधिक सोचना नही चाहती थी।

केवल एक संकल्प उसने किया था।

वह प्रातःकाल जय से मिलने और बिदाई देने स्टेशन जावेगी !

●

बारह ...

शैलेन्द्र और जय दोनों ही जब सुधा को उसके निवास पर छोड़ कर-आगे बढ़ गये तब तक कोई किसी से न बोल सका। शैलेन्द्र बात छेड़ने के लिये तत्पर तो था पर उसका द्वन्द्व कम नहीं था। जय के परिवर्तन से, उसके हाव-भाव और शालीन प्रभाव से वह अप्रतिहत हो उठा था। ऐसा जय कभी नही था, ऐसा नारी प्रेमी, सेक्सवादी। उसे अनुभव हुआ। पर क्या वह प्रकट कर दे, जय ! मैं तुम्हें गलत समझता रहा। मैं समझता था तुम राजनैतिक सम्पर्क में रह कर नेतृत्व करते थे, मै समझता था तुम सामाजिक व्यवस्था के एक बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक कार्यकर्त्ता थे। अब तुम कुछ नहीं हो। मैंने देख लिया; परख लिया। तुम भी साधारण हो। अपनी पोजीशन बना चुके हो, इसलिये। वास्तव में तुम क्या हो, यह मैं जान गया। दार्शनिकता का ढोंग क्यों करते हो, भाई !

जय ने इस बीच एक बात अनुभव की। शैलेन्द्र कुछ गम्भीर हो गया है, मुँह पर एक विचित्र-सी उदासी छा गई थी। भौहों पर अजब

बोझिलपन उसने देखा। ललाट कुछ खिचा हुआ। उसे लगा, शैलेन्द्र कुछ गलत अवश्य ही समझ रहा है जैसे, अपरिचित हो। मैं उसके विषय में कुछ नहीं जानता हूँ जैसे। पर ऐसा क्यों हो गया? क्या मुझसे कुछ भूल हो गई?

जय ने उसके कन्धे पर हाथ रख कर पूछा--'सुस्त क्यों हो गये शैलेन्द्र?'

पर शैलेन्द्र जैसे उत्तर के लिये तैयार नहीं था। उसने यह उचित नहीं समझा, दो दिन को आये हुए मेहमान की वह भर्त्सना करे। जिसे उसने अभी कुछ समझा उसी को कुछ खरी-खोटी सुनाये।

'कुछ नहीं, वैसे ही कुछ थकान आ गई।'--उसने कहा।

बात बढ़ न सकी। पर जय को संतोष न हो सका।

'पिक्चर वैसे अच्छा था!'--शैलेन्द्र की राय जानने के लिये जय ने कहा।

'हाँ, आजकल अच्छे पिक्चर आ रहे है।'

घर आ कर सुस्ती और अधिक हो गई थी, शैलेन्द्र का आग्रह था, वह दूध ले आता है नीचे से। बस, खाना न सही तो दूध तो अवश्य ही पी लिया जावे। जय ने उसके आग्रह को नहीं टाला। खाने-पीने की बात थी न, मामूली। उसका अनुमान था, जिस मिट्टी का वह बना है, उसको खाने-पीने का स्वाद नहीं है, बिल्कुल नहीं। और अवकाश भी उसे कहाँ था जो सब बातों की व्यस्तताओं को छोड़ कर केवल एक पेट के पीछे पड़ जावे।

'जब से शरणार्थी आये हैं, पंजाबी रिवाज से दूध पीना पड़ता दिल्ली में, भाई!'--शैलेन्द्र ने मुस्कराते हुए कहा। वह अपनी सुस्ती छिपा रहा था।

'हाँ शैलेन्द्र, अभी तक प्रान्तीय बातों के आदान-प्रदान का समय ही कहाँ था? अब इसे मजबूरी भी तो लोग मानते हैं।'

दूध से निवृत्त हो शैलेन्द्र बिस्तर पर गिर गया कटे घास की तरह। वास्तव में वह थक भी गया था। पर जय सोने के पहिले, अपने दैनिक

कार्यों से निवृत्त होता ही था। उसने डायरी सूटकेस से निकाली। और लिखना प्रारम्भ किया।

मई ११। आज का दिन कुछ व्यस्त रहा। प्रभात से रात्रि तक सैर सपाटा ही किया। कुतुब देखा। देखने काबिल तो केवल यादगार बन गई है उसकी, वैसे उसमें क्या है? विजेता के रूप में कुतुब को देख कर मन को प्रसन्नता नहीं हुई। विदेशियों से पराजित हो कर जो जाति जीवित रहती है, उससे उसका समूल नष्ट हो जाना अच्छा है। पश्चात् सांस्कृतिक विकृतियाँ कहीं का नहीं रहने देतीं।

सुधा के यहाँ भोजन किया। मानव इतना प्रेम क्यों करता है? एक-दूसरे से जो उसे कभी बोझ बन जावे? वह शायद मेरे प्रति विशेष अनुकम्पा से प्रेरित है। पर ऐसे व्यक्ति को प्यार न देकर इस बात की सृष्टि कर देना है, प्रेम संसार में कहीं कुछ नहीं है, झूठ है। मैं सोचता हूँ, मेरे प्रति उसकी धारणा साफ हो जावे। सोने के पूर्व एक पत्र उसे अवश्य लिखना चाहता हूँ। उसका विभ्रम अवश्य दूर हो जायेगा।

वह सौंदर्यवती है, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है और सौंदर्य अपमानित होकर अधिक प्रतिक्रियावादी हो जाता है। सुधा ऐसा न करे तो अच्छा है।

शैलेन्द्र समझता है--मैं भी सुधा के प्रति आकर्षित हूँ--उसके हाव-भाव से यह प्रकट भी होता है, उसे यह बात अनैतिक प्रतीत होती है। मैं चाहता हूँ उसे भी पत्र लिख कर छोड़ दूँ।

जीवन के अनेक अनुभवों में, यह अनुभव यहाँ हुआ। मनुष्य सहिष्णु नहीं है। एक सीमा तक उसका होना स्वीकार करता है। यदि हो जावे तो द्वन्द्व समाप्त हो जावे। लहरों से नीचे जा कर या ऊपर उठ कर ही वह कुछ देख सकता है।

कल मैं वापिस जा रहा हूँ। घर जाऊँगा। मैं व्यवस्था के नियम भंग करने के पक्ष में नहीं हूँ, पर इस व्यवस्था से सन्तुष्ट भी नहीं हूँ। जो बाँधता है वह क्रिया को रोक देता है। कर्म-चक्र से स्वयं को जोड़ देने से लाभ भी क्या?

डायरी जय ने अपने सूटकेस में रख दी। फिर लेटर-पैड निकालकर पत्र लिखने बैठ गया। यद्यपि रात्रि के साढ़े दस बज चुके थे, थकान अपना प्रभाव दिखा रही थी; पर उसने लिखना प्रारम्भ कर ही दिया। पहिला पत्र उसने सुधा को लिखा।

मई ११

सुधा देवी !

स्नेहाभिवादन। पत्र पाकर तुमको आश्चर्य होगा। जब मैं तुमसे विदा ले रहा था तो सोचा जो बात कही न जा सकी उसे पत्र में लिख दूँ। वास्तव में तुम्हारा व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है। सौभाग्य कहिये, मुझे तुमसे मिलने का अवसर मिल गया।

जीवन एक मोहक अवसान है जो घटित होने पर राख और अवसर की अवहेलना करने पर कण की भाँति कसकता है। इसकी सत्यता ही इसका आधार और चरम की प्राप्ति ही इसका होना है। मैं यही मानता हूँ। शायद आप भी मानती हों। तभी हम मिले और ऐसा लगा यह मिलन साधारण तो निश्चित नहीं है। मैंने इसकी तमाम व्याख्या की है।

आप शायद नहीं जानती होंगी। मैं भारतीय सामाजिक जीवन का एक अंग हूँ। और उसके अधीन पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। मेरी सुन्दर पत्नी और सुकुमार बालक व्यवस्था के रथ को खींच ले जानेवाले चक्र हैं। उससे अधिक मैं जीवन को नहीं आँक सकता। आँकूँ कैसे, जो मैं हूँ उसी से तो आँक सकता हूँ। आप शायद व्यवस्था में विश्वास न करती हों या नई व्यवस्था चाहती हों, रूढ़िवादी सड़ी हुई व्यवस्था आपको प्रिय न हो, शायद ! पर जीवन इतना ही नहीं है, यही मैं कहना चाहता था। यह तो एक भाग है, किन्तु दूसरा भाग ऐसा है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। एक का संबंध व्यवस्था से और दूसरे का स्वच्छन्द भोग से अर्थात् अव्यवस्था से। यद्यपि क्षय प्रत्येक का धर्म है पर एक का उद्देश्य ही क्षय है और दूसरे का स्वाभाविक क्रिया। मैं नहीं जानता आप किस निष्कर्ष पर पहुँची हैं, पर मेरा निष्कर्ष यह है व्यवस्था न माननेवाले को व्यवस्था माननेवाले से द्वन्द्व न करना चाहिये।

यह दोनों एक-दूसरे की पूर्ति हैं। पर इसका संबंध या विरोध जीवन के सुख से न जोड़ा जावे। आनन्द की स्थिति तो उससे भी ऊपर है।

मैं आपके विषय में कुछ भी नहीं जानता। आपको शायद यह गलतफहमी हो गई है कि मैं आपके जीवन से परिचित हूँ। वास्तव में आपका विषय लेकर मेरी और शैलेन्द्र की ऐसी कभी चर्चा नहीं हुई, जिससे कुछ बात आपके विषय में मुझे ज्ञात हो सके। और आप निश्चित मानिये मैं आपसे परिचित हूँ--केवल आपसे। यह परिणाम घनिष्ठतर से घनिष्ठतम स्थिति में भी पहुँच सकता है। फिर भी मुझे आपके अन्य संबंध और जीवन से कोई चिंता न होगी। चिंता और सामाजिक बंधन का भूत मनुष्य को जीवित ही मरण कर देता है। उद्देश्य भी इसमें कुछ कुछ सहायक होता है। आपके स्नेह के लिये न तो मेरे पास कोई उद्देश्य है और न घृणा के लिये उद्देश्यहीनता। मैं समझता हूँ सामाजिक व्यवस्था और नैतिक आचरण में बिना व्यवधान पहुँचाये यदि हम बने रहे तो मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगा।

एक बात और स्पष्ट कर दूँ। शायद आप मुझे पुराने विचारों का ही मान कर न छोड़ दें। समाज की प्रगति में द्वन्द्व और विरोध तो अनिवार्य लक्षण है। पर इसका आधार व्यक्ति का भोग न हो। समाज और व्यक्ति की परिधि को अलग-अलग करना कठिन है द्वन्द को यथा-काल और यथा समय अपनाया जाता है। मुझे अनुभव हुआ आपके मन में द्वन्द है, व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार का। व्यक्तिगत द्वन्द का उत्तर मैं इस रूप में आपको दे रहा हूँ और सामाजिक द्वन्द सृजन से विनाश और विनाश से सृजन की क्रिया है। मेरी स्पष्टता आपको खलना नहीं चाहिये। मैंने आपको आत्मीय समझा है तभी यह बात आपको लिखी है।

आप के कला-प्रसाधन और सौन्दर्य-बोध दोनों का सुन्दर समन्वय बन पड़ा है, मैं अपने स्नेह के प्रतिदान में इतना चाहूँगा कि आप इसे बनायें रखें।

जीवन वास्तव में बड़ा कटु और भयंकर है। उसकी वीभत्सता को सहन करने की सामर्थ्य निर्मूल अन्तःकरण में नहीं है इसलिये वह उर्ध्व-गामी होकर दिव्य जीवन की कल्पना करता है। वह वास्तव में एक सत्य को छिपाने के लिये हवा में महल बनाता है। पर वह कभी न कभी सत्य बन कर प्रकट हो ही जाता है। सत्य को लेकर दिव्य जीवन की ओर उन्मुख होना ही श्रेयस्कर है, इसीलिये मैंने अपना सत्य आपके सामने प्रकट कर दिया; फिर भी मैं समझता हूँ, आपके और मेरे संबंध में कोई अन्तर न होगा।

प्रेम के संबंध में आज बड़ी विचित्र-विचित्र कल्पनाएँ मनुष्य ने बना ली हैं। शारीरिक भोग की आकांक्षा भी प्रेम का एक कथित स्वरूप है, उसे प्राप्त करने के लिये भी उत्सर्ग करना पड़ता है। पर मैं समझता हूँ यह तो प्रेम है ही नहीं। भोग करनेवाले के लिये सौंदर्य के बिना प्रेम और प्रेम के बिना विवाह दोनों बराबर हैं। फिर प्रेम का संबंध परिणामरहित कैसे हो सकता है। यह झमेला ऐसा ही है जिसका निरूपण व्यावहारिक अधिक है। जिसमें जितनी सामर्थ्य है वह स्नेह को जलाता हुआ प्रकाश का आलोक फैला सकता है।

जाने दीजिये। ये कुछ बातें निरर्थक-सी हैं। आपके उन्मुक्त और निश्चल व्यवहार के लिये मैं चिर-कृतज्ञ हूँ।

एक बार पुनः आपके मंगलमय भविष्य की कामना करता हूँ। आपने इतना अधिकार मुझे दिया है, यही मानकर।

तुम्हारा अपना
जय

पुनश्च :

एक बात और लिख दूँ। मुझे प्रसाद की ये पंक्तियाँ बहुत पसंद हैं। आपको हैं या नहीं, ज्ञात नहीं। पर इससे अधिक सुन्दर सत्य मुझे खोजने पर भी नहीं मिला। मैंने उन्हें बहुत सहेजकर रखा है।

पंक्तियाँ ये हैं :—

मानव जीवन वेदी पर, परिणय है विरह मिलन का,
सुख दुःख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का ।।

जय अब काफी थक चुका था। लिफाफे में पत्र बन्द कर उसने कोट की जेब में डाल लिया, पर अभी उसके मस्तिष्क में पूर्ण रूप से शान्ति न थी। वह चाहता था शैलेन्द्र की गलतफहमी को भी दूर कर दे। शायद वह सब गलत समझ गया है और इसीलिये वह मुझसे इतना दूर हो गया है। एक बार पुनः नेत्रों को मलकर वह लिखने बैठ ही गया। अभिन्न शैलेन्द्र,

जब आया था तब तुम मेरे अधिक पास थे और अब जब जा रहा हूँ, तब कुछ दूर दिखाई पड़ रहे हो। वास्तव में दूर तो नहीं हो पर ऐसा प्रतीत होता है मुझसे कुछ घटित हो गया जो तुम्हें प्रिय नहीं है। शायद तुम मेरे भविष्य के विषय में, मेरे सुन्दर और सुखद परिवार के विषय में चिंतित हो उठे हो। हो सकता है मेरे जीवन की इस स्वच्छन्दता को तुमने पहिले कभी कल्पना न की हो।

पर मित्र सत्य इन सबसे पृथक् है।

सुधा के प्रति मेरे किसी संबंध की कल्पना से तुम शायद व्यथित हो गये। मै तुम्हारी आत्मीय सहानुभूति की सराहना करूँगा। बाहर-वाले को मेरे प्रति घटित होनेवाली घटना से क्या मतलब है, यह तो तुम हो, यदि ऐसा न करते——मुझे वास्तव में कष्ट होता।

तुम जानते हो, मैं व्यवस्था के बाह्य आडम्बर से कभी प्रभावित नहीं हुआ पर अव्यवस्था का पोषण नहीं कर सकता। उसके विकास को देख सकता हूँ। पर मै उसकी व्यवस्था या अव्यवस्था में योग नहीं दे सकता। इतना निरीह अवश्य हो गया हूँ इन दिनों। पर यह अवश्य नही चाहता कि मेरे परिचित या सारा संसार मुझे जैसा हो जावे। मैं प्रेम और घृणा दोनों के परिणामों से परिचित हूँ, आकर्षण और विकर्षण की क्रिया अब देख सकता हूँ, जबकि सम्पूर्ण जीवन उसमें खपा रखा है।

सुधा का परिचय तुमने मुझे कराया पर वह आज भी अपरिचित है, शायद वह परिचित होना चाहे, पर मैं अपरिचित का ही पक्षपाती हूँ। क्यों कि परिचय की घनिष्ठता के परिणाम की स्वीकृति मैं किसी को

नही देता। वहाँ व्यवस्था मान लेना पडती है। तुम्हारा ख्याल है--मैं चितनप्रिय हूँ, गलत नहीं है, दर्शन प्रिय भी हूँ। पर आधुनिक दार्शनिको की भाँति मेरे चितन और क्रिया में वैषम्य नहीं मिलेगा। व्यक्ति की नैतिकता वर्तमान भारतीय ढंग में यह भोगवाद सेक्सवादी है, आत्मदर्शनवादी नहीं। मनुष्य में यही दुर्बलता है, वह एक छोर पर आत्मदर्शन करना चाहता है, दूसरी ओर एक के बाद दूसरे से अपना संबंध बनाता चला जाता है। वहाँ कोई रोकटोक उसे स्वीकार नहीं है। सेक्स शायद इतना प्रबल है, वह अव्यवस्था भी है, इसलिये नैतिक व्यवस्था अपना काम करती है और अनैतिक भोगवाद अपना।

मनुष्यता की शान्ति पहिले पक्ष में अधिक है। तुम सोचोगे यह बेकार की बातें मुझे कब से आ गईं। पिछले अनेक दिनों से मुझे इस ओर झुक जाना पड़ा। इतनी गहराई से समझे बिना कोई बात मुझे सन्तुष्ट नही कर पाती। यद्यपि संसार इतनी गहराई से सोचने-समझने के पक्ष में नही है; पर मेरा विश्वास है संसार में कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो जीवन का इसी रूप में चितन चाह सकते है।

तुम मुझे बहुत पसंद हो। मुझे ईर्ष्या होती है। मै 'तुम' क्यों नहीं बना, इतना मस्त! दोस्त इसी बात को बनाये रखना।

सुधा को मैंने पत्र लिख कर सब बातें स्पष्ट कर दी हैं।

तुम्हें कष्ट हुआ, इससे चित्त खिन्न हो जाता है। फिर क्या ही अच्छा होता तुम भी गहराई से सोच लेते। कुछ भीतर जा कर। पर कोई बात नही। तुम्हारे लिये मैंने यह सब सोच लिया है।

--जय

पत्र समाप्त किये तब रात के बारह बजे थे। जय कुछ हल्कापन अनुभव कर रहा था। उसने पत्र शैलेन्द्र की पढ़ने की टेबिल पर दाब कर रख दिया और सोने का उपक्रम करने लगा।

शैलेन्द्र सो रहा था--श्लथ। पर शारीरिक थकान मानसिक थकान भी होती है ऐसी बात नहीं है। एक सीमा तक मन और शरीर का

सामन्जस्य बना रहता है, फिर दोनों की क्रियायें पृथक् हो जाती हैं, बिल्कुल भिन्न।

आधी रात के पश्चात् शैलेन्द्र स्वप्नलोक में पहुँच चुका था उसने अनुभव किया वह किसी से बहुत प्रेम कर रहा है, कौन है वह, ओह! उसकी पत्नी--प्रेयसी! पर यह क्या हुआ। यह अपरिचित व्यक्ति यहाँ कैसे आ गया। क्यों मेरा विरोधी बन रहा है। मैं तो उसका विरोध नहीं करता हूँ।

करवट बदलने से स्वप्न भंग हो गया। वास्तव में शैलेन्द्र अस्त-व्यस्त हो उठा था। उसे समझ में नहीं आया, यह वह सत्य देख रहा था या स्वप्न। पर फिर आँखें मल कर वह सजग हो गया। उसने एक निश्वास लेते हुए कहा--तो यह स्वप्न था।

लम्बा कद, इकहरा बदन, कुछ लम्बी-सी भौहें, कनपटी के नीचे एक बाईं ओर छोटा-सा तिल। वैसे शैलेन्द्र आधुनिक ढंग से रहता है, पर फिर भी उसे अपने शरीर की साज संवार की चिन्ता है। कपड़े ढंग से पहिनता है, उसे समय निकाल कर अपनी साज सज्जा करनी पड़ती है, वह इतना व्यस्त रहता है जहाँ स्वप्नों के लिये कोई स्थान नहीं है। पर आज यह स्वप्न कैसा! और क्यों?

अपनी शक्ति भर वह सोचता रहा, पर समझ न सका। क्या उसकी पत्नी कष्ट में है, क्या वह निर्धारित समय पर नहीं पहुँचा इसलिये दुःखी है, या...

उसने अपनी चारों ओर नजर दौड़ाई, पास के पलंग पर जय सो रहा था। वह सुबह जा रहा था, वह भी जायगा रीता को लेने। जरूर जायगा। जैसे उसे अभाव ने ही स्वप्न में डाला हो। पत्नी के अभाव में।

वह उसे बहुत प्रिय है। उसका विश्वास है--वह भी उससे प्यार करती है, केवल उसी से। और किसी की ओर वह कभी निगाह नहीं उठा सकती। वह चाहता भी यही है। उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी पत्नी कैसे चल सकती है?

वह बिस्तर से उठ पड़ा। घड़ी देखी। सबेरा हो रहा था, साढ़े चार बज रहे थे। उसने सोचा जय को जगा दे। वह आज जा रहा है न, पर उसने जय को नहीं जगाया।

यह जय है, ऐसा जय क्यों है? आत्म-केन्द्रित। स्वार्थी! नहीं। उसने फिर सोचा। जय ऐसा नहीं है।

पर सुधा उसके इतने निकट क्यों है? और मुझसे इतनी दूर क्यों? जब मैं उसके अधिक निकट रहता हूँ, उससे अधिक परिचित हूँ, उसके अधिक काम आ सकता हूँ। क्या यह काम उसका नैतिक है और यदि जय का संकेत न मिलता तो क्या वह ऐसा कर पाती?

उसका मन अस्वस्थ हो गया था। प्रभात से ही उसकी चेतना क्षुब्ध हो गई। संघर्ष बढ़ गया। लहरें टकरा उठी। सतह पर विस्फोट हो उठा। पर जय आज तो चला ही जायगा। अपने विकल्प की शीतल बयार ने उसकी स्थिति को कुछ शान्ति किया।

'नारी पुरुष पर किस बात से प्यार करती है और पुरुष नारी की किस बात से प्रभावित होता है?' शैलेन्द्र सोच न पाया। उसने एक क्षण सोचा और जय के सूटकेस में से उसकी डायरी निकाल ली। वह चाहता था जय के विषय में सब कुछ जान जाये। बीच में से पृष्ठ खोलकर वह पढ़ने लगा--

'जीवन विरोधों का सामंजस्य है, चेतना की प्रबल क्रिया है, आगत और विगत का संधिस्थल है। कितनी विराट भावना जुड़ी हुई है जीवन के साथ। पर साथ ही कितना गहरा अंधकूप है! जहाँ ऊपर से कुछ नहीं दिखाई पड़ता और जो कितना भीतर उतरता है उतने ही भर का ज्ञान उसकी परिसीमा है। फिर उसके कितने घेरे हैं। परिवार के, जाति के, भूमि के, देशों के रंग के और धर्म के। भारतवर्ष में इस संपूर्णता को समझने के लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपासना दी। व्यवस्था के लिये वर्ण बनाये और व्यक्ति के जीवन का विभाजन कर दिया। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। पर इसके साथ ही एक दूसरा वर्ग था जो आस्था में विश्वास नहीं करता था। वे आज भी नहीं करते।

प्रारम्भ से वे चैत्य पूजक थे, श्रमण। व्यवस्था विरोधी वे चैत्य पूजक संघ बना कर रहते थे। विवेकवादी प्रयोग करते थे, उनकी परंपरा चलती रही। पर जीवन इन दो छोरों में ही नहीं। वहाँ जड़ता है। जीवन दोनों के सामंजस्य में है। और जीवन संसार से भागने का नाम नहीं है। निवृत्ति स्वयं अव्यवस्था है, अति प्रवृत्ति का निरोध निवृत्ति से संभव नहीं है, कर्म से संभव है। संसार को जोड़ने का कार्य विराट व्यक्तित्व ही कर सकता है। इन दो घेरों में बँधे व्यक्ति नहीं।

व्यवस्था रूढ़ि बन जाती है, विवेकवादी उससे घबरा उठता है। रुढ़ि विवेक से नहीं टूटती। कर्म से टूटती है। इसलिये जो कर्म करता है, उसे बुद्धि अपने फेर में नहीं डाल सकती।

आज संध्या को एक ऐसा ही भाषण सुना, जिसका आदर्श था विवेकवादी निवृत्ति और वह भी अपने स्वार्थों के लिये। कितना गलत पाठ आज देश के राजनैतिक नेता पढ़ा रहे हैं। क्या वे भारतवर्ष के इस सांस्कृतिक क्रम-विकास से परिचित हैं? मैं समझता हूँ बहुत कम ऐसे हैं जो इन सब बातों से परिचित हों।

मुझे इतने बड़े व्यक्ति का भाषण प्रभावित न कर सका। वे निवृत्ति से पश्चिम की अति प्रवृत्ति को समाप्त करना चाहते हैं, पर शायद इस बात का ज्ञान उन्हें नहीं है, इसी निवृत्ति ने इस देश में करोड़ों भिक्षु बना दिये उससे मध्ययुग में राजनैतिक विप्लव हुए। चंगेजखाँ भी तो यही किया था।

मेरा मत है, जीवन को इन दो धुरी केन्द्रों से नहीं समझा जा सकता। साधारण व्यक्ति संसार के दुःख-सुख, निग्रह और प्रेम, घृणा और मोह का पुतला है, उस पर एक की प्रतिक्रिया दूसरे पर अधिक वेग से होती है। जो जागरूक हैं जिनकी आत्म-चेतना बलवती है, वे सब देख सकते और समझ सकते हैं, उन्हें चाहिये वे, अपने कर्म में जुट जायँ। दुःख में दुःखी हो कर और सुख में सुखी हो कर साधारण को थाम लें। उसे अपना अनुयायी न बनायें, नहीं वास्तव में वे कुछ नहीं कर सकते।

स्वयं अपनी लम्बी सी शिष्ट परम्परा के सुख में अभिभूत हो कर रह जावेंगे। वे बस महापुरुष बन जावेंगे।

शैलेन्द्र ने डायरी बन्द की। उसका हृदय एक बार काँप गया।

यह जय क्या लिख गया, फिर उसने सोते हुए जय को गौर से देखा। कहीं जाग जायेगा तो--पर उसका मन नहीं माना। वह अपने पलंग पर जा बैठा। उसने फिर से डायरी खोल ली थी।

दिसंबर १२, मेरे मित्र सोचते हैं, मैं आदर्शवादी हूँ और आदर्शवादी स्वार्थी होने की एक क्रिया ही है। उनका विश्वास है मैं संसार से तटस्थ इसलिये रहता हूँ कि मुझमें इतनी योग्यता ही नहीं है कि बात को समझ सकूँ। कभी-कभी मुझे भी उन की बात पर कुछ सोच लेना पड़ता है। मेरा अनुमान है, मैं क्या हूँ इनकी अभिव्यक्ति उनके अपने हृदय का प्रतिबिम्ब होना चाहिये। क्योंकि न तो आदर्श और यथार्थ मेरे ध्येय वाक्य हैं और न स्वार्थ और त्याग मेरे पोस्टर्स ही। भारत की मिट्टी से मेरे शरीर का संगठन हुआ है। कण-कण इसी का है, इसी का पानी रक्त बन कर मेरी नसों में दौड़ रहा है। इसकी हवा ने मुझे सोचने-समझने के लिये विशाल ज्ञान-भण्डार दे दिया है। दर्शन और चिंतन मुझे माता के दूध से प्राप्त हुआ है। मैं गौरव समझता हूँ कि मैंने इस देश में जन्म लिया जो आज भी अत्यन्त ओछी स्थिति में भी अपने घेरे में ही बचा नहीं रहा है। विशाल हृदय है जिसका।

जो लोग पश्चिम की चकाचौंध और उनके ज्ञान-विज्ञान से ऊपरी तौर पर परिचित होते हैं, उन्हें इस देश में उसकी इस स्थिति में कोई महानता नहीं मिलती। करुणा क्यों घर-घर में जगी हुई है? कर्त्तव्य क्यों बोलता नहीं है? करना ही उसकी क्रिया है, लक्ष्य को देखते भर रहना मेरे देश की साधारण व्यक्ति की चारित्रिक विशेषता नहीं है। वह चकाचौंध पर नहीं गया है पर उसकी जड़ें वास्तव में बहुत गहरी हैं।

रूस का साम्यवाद, समाज की समता के नाम पर एक ऐसा प्रयोग है जिसकी असफलता समूल दर्शन की अपरिपक्वता के कारण किसी भी घड़ी हो सकती है। वहाँ व्यक्ति नहीं है, वर्गहीन समाज की स्थापना के

लिये वर्ग बना कर अशक्त वर्गों को सदैव के लिये समाप्त किया जाता रहा है। केवल एक ही बात आदमी को इस कटघरे में बन्द हो जाने के लिये प्रेरित करती है--वह है अबाध भोग की स्वच्छन्द स्वीकृति। लोग उस ओर झुक सकते हैं, पर प्रतिक्रिया क्रिया नहीं है। जीवन केवल प्रतिक्रिया नहीं है।

आज कुछ विशेष न हुआ। घर से पत्र आया है, कितनी माया-ममता व्यक्ति एकत्रित करता है, पिताजी मकान बनवा रहे हैं, एक और। पर ऐसा न करें तो और क्या करें?

दिसंबर २०। लगभग आठ दिन बाद ही दैनिकी हाथ पड़ी। वैसे दैनिकी सिरहाने पड़ी रही पर लिखने को जी न हुआ। ऐसा कुछ नहीं है जिसे लिखा जाये। वैसे प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण है, प्रत्येक घड़ी मूल्यवान् हैं परन्तु साँसें आदमी को कितनी कम मिली है। मुझे अनुभव होता है अभी तक जीवन का मैंने क्या किया? कैसे अनजाने में समय बीत गया? अब ऐसा नहीं होने दूँगा।

संसार के मनुष्यों का एक ऐसा भाग भी है जो इस बात पर हँस सकता है, पर हँसी मुझे उन्हीं पर आती है। उनका केन्द्र वे स्वयं हैं यह उनका घेरा--ऐसा समाज--एक समाज है, जिसकी परिधि में वे सब कुछ करने के अधिकारी हैं। उन्हें अपनी स्थिति पहचान लेना चाहिये।

एक महानुभाव कुछ दिनों से बहुत व्यस्त हैं। कारण पूछने पर ज्ञात न हो सका पर मेरा अनुमान था, वे जितनी अधिक नैतिकता की दुहाई देते हैं, उतना ही उनका हृदय अनैतिक सुख के अत्यन्त निकट है। वे मुँह से किसी के प्रति प्रेम के दो शब्द नहीं बोल सकते; पर उनकी मुद्रा इस बात की प्रतीक बन जाती थी कि वे आसक्त हैं। सुधारवादी काल के संस्कार उन्हें अपनी भूल मानने की स्वीकृति नहीं देते और कभी व्यंग्य में वह अभाव किसी पर भी व्यक्त हो जाता है। मेरा अनुमान सही निकला।

उनके एक निकट मित्र से ज्ञात हुआ। वे विवाह के लिये लालायित हैं, लड़की चुनने का अधिकार उन्होंने माँ-बाप को दिया है। माँ-बाप पैसे के लिये जिनसे विवाह कर देना चाहते हैं, वे देवी जो सौंदर्यवती नहीं हैं। अधिकार दिये जाने के बाद भी उन्होंने विवाह अस्वीकृत कर दिया है। पर वे अपनी इच्छित लड़की से अभी भी विवाह नहीं कर सकते।

उनकी संपूर्ण चिंतन-शक्ति का आधेय है—एककालिक, एकविषयक समाज—ऐसा समाज। पर मैं सोचता हूँ, इससे परेशान होने की क्या बात है? यदि तुम्हें नारी चाहिये अपनी कल्पना के अनुरूप फिर विवाह का दायित्व तुम स्वयं लो, पिता को लिख दो, पिता जी मान ही जावेंगे, थोड़ा संघर्ष हो सकता है या फिर आँख बन्द कर उनका आदेश सुन लो और उसका आज्ञाकारी पुत्र की भाँति पालन करो। इन दो निष्कर्षों के तर्क बहुत से हो सकते हैं।

आज हमारे देश में समाज कुछ बातों के लिये बहुत परेशान है। हिन्दू परिवार अपने विकास की बात न सोच कर अपने बंधनों को अभी भी मजबूती से पकड़े हुए है, जीवन का यह प्रकार रुढ़िवादी कहा जावेगा। जीवन के मूल तत्त्वों को तथा सांस्कृतिक महत्त्व को रखते हुए जो बात अपनी तरह घुल-मिल सके, उसका स्वागत करना चाहिये। सारे मतवाद, राजनैतिक भेद और आर्थिक प्रयत्न, यदि जीवन के शालीन और स्वाभिमानी भावना से दूर हों तो उनसे दूर से ही नमस्कार करना चाहिये।

बहुत दिनों बाद शैलेन्द्र की याद आई। दिल्ली में जम गया है, पर वह वास्तव में पूरा मनुष्य है। कभी वह परिस्थिति के अनुकूल चलता है तो कभी परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेता है। मनुष्य तो यही है, जीवन वास्तव में उसी का प्रतिबिम्ब है। उससे ऊँची या नीची स्थिति में आदर्श या यथार्थ दो ही बातें आती हैं। चरित्र का गठन तो वहीं दिखाई पड़ता है। किन्तु आज मानव वैचित्र्य भी घटित होना चाहता है।

राधा की कभी-कभी बहुत याद आती। मेरे हृदय में बैठा हुआ नैतिक मन मुझे धिक्कारता है, जैसे मैं अपनी ऊँचाई से गिर रहा हूँ।

पर ऐसी ऊँचाई पर पहुँचने से क्या लाभ जहाँ इतना बड़ा भेद खड़ा हो जावे। राधा ने मेरे हृदय को एक बार हिला दिया है। यह यथार्थ है पर यही मेरी दुर्बलता भी हो सकती है। उसे चाहिये वह मेरे साथ जुड़े हुए जीवन को सुचारू रूप से चला चलने दे, और वह चाहती भी यही है, कर भी रही है। पर मनुष्य भी कैसा विचित्र प्राणी है जो उसे छोड़ देना चाहिये वहाँ वह बँधता है और जहाँ बँधना चाहिये, उसकी वह उपेक्षा करता है।

अन्जान में राधा की निवृत्ति और उसके एकांगी जीवन या सामाजिक भरण का दायित्व मुझ पर है। दुनिया चाहे इसे जाने या न जाने पर मैं कभी उससे उऋण नहीं हो सकता। मैं इसे अपना अपराध समझता हूँ पर यह भी कह सकता हूँ मेरा कोई दोष नहीं। तब क्या यह व्यवस्था का दोष है? संसार में कौन-सा देश इसका हल प्रस्तुत कर सकता है, मनुष्य के आकर्षण का। पुरुष और स्त्री के ; जिसमें स्वाहा कुछ भी न हो। एक से प्रेम करने का अर्थ दूसरे से घृणा या विरक्ति तो नहीं है। फिर मैं चाहता हूँ संसार भर में राधा के द्वारा मौन वाणी से निस्तृत स्नेह को फैला दूँ जहाँ मनुष्य भेद को मिटा सके। द्वन्द्व को समझ सके और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि वह जीवन और मरण के महत्त्व को समझ जावे। सतह की बात सतह से समझे और गहराई तक छुता हुआ तैरता नजर आये। सब ऐसा नहीं कर सकते, पर कुछ तो ऐसे हैं ही जो कुछ ऐसा कर सकते हैं।

रानी को पत्र लिखा है। यह इसी आन पर बनी हुई है। नारी की शक्ति कैसी थी वह आज भी है वह दुर्गा है, वीणा-पाणि सरस्वती और लक्ष्मी भी।

पर मनुष्य अधिक बुद्धिवादी है, वैसे व्यवस्था नहीं मानता पर व्यवस्था के बिना रह भी नहीं सकता।

स्वयं नियामक बनना चाहता है, पर नियम पालन नहीं कर सकता। प्रत्येक काल में दो भाग ऐसे ही मिलते हैं।—शैलेन्द्र का ध्यान भंग हो गया जब उसने देखा कि अलार्म घड़ी की घंटी बज उठी। साथ ही जय भी

अपने बिस्तर पर बैठ गया। वह कुछ हतचेतन-सा देखता रह गया। उसे अनुभव हुआ--उसने प्रारंभ से अभी तक जय के लिये कुछ अच्छा न किया। कैसा हो गया हूँ ऐसी ओछी प्रवृत्ति का।

तभी जय ने वहीं बैठे-बैठे कहा--'आज सुबह-सुबह से यह क्या हो रहा है? ओहो तुम तो डायरी...'

'हाँ भाई। रात कुछ नींद अच्छी नहीं आई। जल्दी आँख खुल गई सोचा तुम बहुत पढ़ते हो, लिखते हो, देखूँ तो सही।'

'कोई बात नहीं है। मगर ऐसा तुम्हें कुछ न मिला होगा जो आश्चर्यजनक हो। वैसे एक बात और है--आज आदमी जिंदगी को दो प्रकार से देखता है। बिल्कुल गिरावट के तरीके से या फिर कुछ ऊँचाई लिये हुए। अधिकतर पसंद साधारण तरीके की ओर है पर निश्चय ही वहाँ कुतूहल और वैचित्र्य ही है। जब वह समाप्त हो जाता है तब उर्ध्वगामी हो जाना पड़ता है। अपनी तो ऐसी ही बात है भाई !'

शैलेन्द्र ने संकोच से अभिभूत डायरी को जय के सूटकेस में ला कर रख दी। और उसके बिस्तर पर आ बैठा, जैसे कुछ कहना चाह रहा हो, पर शब्द नहीं थे।

जय ने ही कहा--'कोई बात नहीं है। कुछ लोग इस पक्ष के हो सकते हैं कि किसी की दैनिकी नहीं पढ़ना चाहिये पर मेरी दैनिकी में ऐसा कुछ नहीं है।'

'जय तुम कितने बदल गये हो, मुझे लगता कितनी ऊँचाई तुममें है और एक मैं, मेरी सीमायें और जटिल होती जा रही हैं, तुम जैसे बंधन में रह कर मुक्त हो। मुझे बहुत खेद है। मुझसे कुछ भूलें हो गईं दोस्त। तुम बुरा तो नहीं मान गये?'

'छोड़ो इन बातों को। तुमने ऐसा कुछ नहीं किया जिससे मुझे कष्ट पहुँचा हो। शायद डायरी तुमने पढ़ ली है, मुझे कुछ दिनों से अपनी निजी बात सोचने और समझने की आदत पड़ गई है इसलिये हर ऐसा व्यक्ति जो अपने आप में बहुत सावधान नहीं है, ऐसे ही बात सोचता है। हाँ आज जाना है मुझे।'

'सचमुच ?'

'देखो वैसे तो तुम जानते हो, अपने लिये काशी और दिल्ली दोनों बराबर हैं पर श्रीमती जी भी तो कुछ हैं, उनके लिये।'

'खैर कोई बात नहीं अभी घंटा भर बाकी है। तैयार हो जाओ।'

'हाँ देखो, शैलेन्द्र ! मैंने रात को पत्र लिखे थे। एक सुधा को दूसरा तुम्हें। वे रखे हैं, तुम्हारा पत्र जब चाहे तुम पढ़ो न पढ़ो, पर सुधा को जरूर पहुँचा देना।'

'उससे कुछ लाभ। जाने दो। भाई गलती तो मेरे मन की थी।'

'नहीं गलती किसी की भी नहीं है, यह प्रश्न नहीं है पर घटित होने के पहिले जो बात जँची उसी का संकेत है।'

जय ने तैयारी आरम्भ की। शैलेन्द्र का उत्साह दूना हो गया था।

●

तेरह...

सुधा जब रिक्शा की तलाश में थी तभी एक रिक्शा उसके सामने ही जा रहा था। उसमें आकृति पहिचानी हुई उसे समझ में आ रही थी। उसने जैसे ही नमस्ते को हाथ उठाया, रिक्शा किसी के आदेश से रोक दिया गया था।

'ओहो सुधा देवी !'

'शोभा, तुम। कहाँ, सुबह-सुबह से ?'

'स्टेशन चल रही हैं आप, मामा आ रहे हैं।'

'चलना तो मुझे भी है।'

'तो चलिये।'

रिक्शा चल पड़ा।

'बहुत दिनों बाद ये मुलाकात हुई। आजकल डाँसिंग क्लास में नहीं आतीं आप। मैं तो अजी केवल दस दिन को वहाँ गई थी।'

'हाँ, शोभा, और जरूरी काम आ गये हैं, बस इसीलिये। घर सब अच्छे हैं।'

'हाँ दीदी, कोई आ रहा है आज।'

'नहीं शोभा, मेरे एक मित्र जा रहे हैं, पूना। उन्हीं को छोड़ने।'

तब शोभा को आश्चर्य हो रहा था, सुधा किसे पहुँचाने जा रही है, कोन मित्र हो सकता है, और वह भी साथ नहीं है?'

फिर कुछ देर कोई बात नहीं हो पाई।

'पढ़ाई कैसी चल रही ?'—सुधा ने पूछा।

'कुछ नहीं दीदी। जो ऊब गया है और कोई अच्छा पढ़ानेवाला तो मिलता ही नहीं।'

वह कुछ रुक गई जैसे कुछ कहना चाहती हो पर कह नहीं सकती थी और तब कुछ स्मृतियाँ उसे हो आई हों। पर बहुत हल्की।

शैलेन्द्र और जय जब स्टेशन पहुँचे तब सात बज रहे थे। गाड़ी छूटने में अभी आधा घण्टा बाकी था, पर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा प्लेटफार्म के दूसरे भाग से सुधा किसी के साथ उनकी ओर ही बढ़ती चली आ रही है।

शैलेन्द्र ने कोहनी से संकेत करते हुए कहा—'देखो! सुधा है शायद।'

जय को आश्चर्य नहीं हुआ जैसे उसका अनुमान था, सुधा आयेगी, अवश्य आयेगी पर वह...

'हाँ, वह दूसरी लड़की है न, वह शोभा है, मेरे साथ उस दिन वहाँ उतरी थी'—जय ने कहा।

कुछ सेकेन्डों में सुधा और शोभा वहाँ पहुँची गई थीं—वास्तव में आश्चर्य शोभा को हो रहा था—

'दीदी प्रोफेसर साहब पूनावाले, आपके मित्र ?'

'तो तू इनको जानती है!"

'हाँ, हाँ, हम...'

'नमस्ते सुधा देवी और ओह, नमस्ते शोभा, तुम यहाँ कैसे ?'

'आप जा रहे हैं, पर पिताजी तो आपका इन्तजार ही करते रहे।'

'पिता जी या तुम, खैर। घर से जरूरी पत्र आया, बस इसीलिये।'

सुधा कुछ न समझ पा रही थी। यह घनिष्ठ परिचय कैसे ?

तभी बहुत-सी बातें चल पड़ीं। जय ने अपने रास्ते की घटना को बड़े ही रोचक ढंग से कह सुनाया।

शैलेन्द्र ने कहा—'सुधा देवी ! मैंने बहुत कहा, इन्हें रुकने के लिये, पर बात के बड़े पक्के हैं हजरत, सुनते ही नहीं।'

'मैं तो रिश्वत भी दे सकती हूँ'—शोभा बोली—'चलिये वापिस चलना पड़ेगा, आप ऐसे नहीं जा सकते।'

'तो भाई एक दिन में थोड़ी ही सब पढ़ाई हुई जाती है, और हाँ'—बात बदलते हुए जय ने कहा—

'देखो, आप हैं मिस्टर शैलेन्द्र गुप्ता, इन्हीं के यहाँ मैं ठहरा था, और शैलेन्द्र—आप शोभा हैं, बी० ए० में पढ़ती हैं। सुधा तो हम सबसे परिचित ही है। और भाई बात यह है, ट्रेन में शोभा का ख्याल था अगर मैं दिल्ली रहता तो उन्हें बहुत मदद मिल जाती, पर याद है शोभा, मैंने क्या कहा था ?'

'कुछ तो नहीं।'

'मैंने कहा था, सफर में मिलनेवाला व्यक्ति कहाँ तक किसी का साथ दे सकता है ? ठीक है न ?'

बात ठहाके की हँसी में बदल गई। ..

शैलेन्द्र ने कहा—'एक बार चाय और पी ली जाय क्यों जय ? यदि आपको कोई आपत्ति न हो शोभा जी !'

सुधा बीच में ही बोल पड़ी—'सुबह-सुबह ऐसी ही बात आपके लायक थी। इसमें शोभा को क्या आपत्ति हो सकती है ?'

चलने में सुधा सबसे आगे थी, फिर शोभा, जय और शैलेन्द्र सबसे पीछे।

उसने कदम मिलाते हुए पूछा—'पत्र...'

'अभी नहीं घर पहुँचने के बाद'—जय ने उत्तर दिया।

होटल में पहुँच कर सुधा ने अनुभव किया, वह जय को विदाई देने आई है, हाँ कुछ ही देर में जय चला जायेगा एक ऐसे जहाज की भाँति

ओझल हो जायेगा जिसके लौटने की कोई आशा न हो। उसने अपनी जगह बदल दी, अब वह जय के निकट बैठ गई थी और शोभा शैलेन्द्र के साथ। पर एक ही टेबिल के चारों ओर वे बैठे हुए थे।

जय ने संकेत से पूछा--'सुस्त क्यों हो गई सुधा? क्या वाकई मेरा...'

वह बोली नहीं उसने बड़ी गहरी आँखों से देखा और आँखें नीचे कर लीं। वह बरबस आँखों में भरे आँसुओं को रोकना चाह रही थी, शायद इसलिये वह नहीं चाहती थी, जय को छोड़ कर कोई उसकी मजबूरी को समझे और न समझकर उसकी हँसी उड़ाये।

'पत्र देंगे आप--उसने पूछा।

'क्यों नहीं? पर शैलेन्द्र तुम तो जानते हो, पत्र दिया तो देते ही रहा और एक बार कहीं खो गये तो फिर ठिकाना नहीं। पर पत्र आपको अवश्य दूँगा।'

'मैं भी उम्मीद कर सकती हूँ'--शोभा बोली--'पता आपके पास है ही।'

'क्यों नहीं?'

शैलेन्द्र ने कहा--'भाई, मुझे तो विश्वास है, तुम्हारे पत्रों का पर।'

तभी जय ने आँखों में ही उससे कहा हो--'बस, आगे कुछ मत कहना भाई। मैंने यदि अपने जीवन का मूल हेतु तुम्हें समझाया है तो तुम उसका ऐलान तो मत करो. वैसे इन सब उपचारों में क्या रखा है?'

और वास्तव में वर्तमान जीवन के ये बाह्य उपकरण मुगल कालीन सभ्यता की भाँति कितनी नाजनीन हैं, आदमी कुल मिला कर इनके बिना कितना नौसिखिया समझ में आता। पत्र देने और उत्तर की अपेक्षा रखनेवाली बात जय को ऐसी ही समझ में आती। ऐसा क्या है जिसका आदान-प्रदान मनुष्य करता। राजी-खुशी वास्तव में इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी उसकी यह व्याकुलता। कि जैसा व्यक्ति अन्तःकरण से चाहता वैसा ही है ना। और ये सारे प्रयत्न उसी एक चेष्टा के प्रति जागरूक कहे जा सकते हैं।

'और देखो, मैं पूना आ रहा हूँ, अगले कुछ दिनों में'—शैलेन्द्र ने कहा—'रीता के आ जाने के बाद।'

'अवश्य।'

बातों के दौरान में चाय पी ली गई।

थोड़ी ही देर में गाड़ी के आने की सूचना मिली। शोभा ने कहा—'प्रोफेसर साहब, मुझे आज्ञा दें, मैं गाड़ी देख कर आती हूँ। गाड़ी के आने के साथ ही शोभा चली गई, विनीत और आश्चर्यचकित। उसके चले जाने के बाद सभी ने ऐसा अनुभव किया—वहाँ थोड़ी ही देर तक क्यों न हो अभाव का वातावरण बन गया।

उस दिन सेकेण्ड क्लास में भीड़ अधिक नहीं थी। सामान आसानी से रख लिया गया। डिब्बे में कुल आठ सवारियाँ थीं, पर नई रोशनी से डब्बा भरा पड़ा था। उसमें एक बुजुर्ग थे, पर उनकी आँखों में भी नई चमक दिखाई पड़ती थी।

शैलेन्द्र ने कहा—'अच्छा मैं अभी आया।'

तब सुधा जय के बिल्कुल पास डब्बे की खिड़की से सट कर खड़ी हो गई।

जय ने उसकी उँगलियों को स्पर्श करते हुए कहा—'कुछ बहुत सुस्त हैं, सुधा देवी, सही बात यह है, यह दो दिन का समय बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यतीत हुआ, और उसकी आत्मीयता को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।'

वह फिर भी कुछ न बोल सकी। एक टक अपनी बड़ी बड़ी आँखों से देखती भर रह गई, बड़ी-बड़ी आँखें जिनमें संपूर्ण घटा आ समाई हो, जैसे अब बरसीं, बरसीं।

तभी कुछ बूँदें ढुलक कर जय के हाथ पर आ गिरीं।

सचमुच सुधा रो रही थी, पर उसे हो क्या गया? ऐसी भावुकता-सा कुछ।

उसने धीरे से कहा—'आपके स्नेह के लिये...'

जय बीच में ही बोल उठा—'सुधा देवी, वास्तव में मैं आपसे स्नेह करता हूँ। आप करती हैं या नहीं। यह नहीं मालूम। पर सच बात यह है, मैं जिन परिस्थितियों में हूँ, स्नेह करता हूँ, कर भी सकता हूँ।'

'आई टू...!' उसने खिड़की पर रखे जय की हथेली पर अपने चिबुक को झुका दिया, आँखें जैसे उठना नहीं चाहती हों।

स्टेशन भी कैसा मनोरम स्थान है, कुछ थोड़ी-थोड़ी देर में चहल-पहल बनी रहती है, ट्रेन आने पर उसका प्रवेग अपनी चरम सीमा पर हो जाता है, जैसे सागर में ज्वार आ गया हो, और बूँदों की भाँति आदमी की कोई गिनती नहीं है। शोभा ट्रेन देख कर लौट आई थी। मामा आये नहीं, पर जाने क्यों उसे सूरदास का पद याद आ रहा था, जैसे—उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पर आवे।

सुधा ने पूछा—'मामा नहीं आये?'

'दिखे नहीं दीदी, शायद दूसरी गाड़ी से आवें। पर प्रोफेसर साहब, आप तो जा ही रहे हैं। मेरी बात आप क्यों मानने चले, दीदी तुमने भी नहीं रोका?

'नहीं, शोभा...'—उसने कहा—

'शोभा, बात यह है प्रोफेसर साहब के सामने बहुत काम है, अनेक व्यक्ति, हमारी तुम्हारी क्या बिसात?'

जय समझ रहा था—सुधा ने व्यंग में उससे कुछ कहा है।

'नहीं, नहीं, सुधा देवी आप...'

'खैर जाने दीजिये। बहुत देर से यह प्रश्न उठा है, पर यह बताइये दिल्ली कब आ रहे हैं आप फिर से, छुट्टियाँ खतम होने के पहिले। यहाँ से सीधे पूना जाइयेगा।'

'अभी....'

'अभी अभी कुछ नहीं'—सुधा ने कहा—'मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगी।'

शोभा बोली—'यह बात कुछ है, इतनी जोर देकर जो बात कही जा रही है, उसके हिसाब से तो आपको आना ही पड़ेगा, आयेंगे न प्रोफेसर साहब?'

पर शोभा को लगा--उसे दीदी की बात की ऐसी आलोचना नहीं करनी चाहिये थी।

गाड़ी के चलने के कुछ पहिले, शैलेन्द्र आया--दो डाली सामान था, कुछ फल, कुछ खाने-पीने का। उसने कहा--'कल पहुँचोगे, तुम ठहरे संकोची, कुछ खा लेना।'

वह डब्बे में चढ़ा, सामान ठीक रखवाया, तभी जय ने उससे कहा--'वह...वह पत्र मत देना। अपने पास रखना, मैं वहाँ से लिखूँगा।'

गाड़ी की सीटी हो चुकी थी, शैलेन्द्र आश्चर्यचकित था। शोभा प्रसन्न थी, सुधा अनमनी। पर सब जैसे खो गये थे।

जय ने हाथ जोड़ कर कहा--'शोभा नमस्ते, सुधा देवी...!' पर शैलेन्द्र ने अपना हाथ बढ़ा रखा था।

गाड़ी चल पड़ी तब सुधा ने हाथ बढ़ाया, 'यात्रा मंगलदायी हो'--उसने कहा।

जय ने दोनों हाथों से उसका अभिवादन किया। वह थोड़ी दूर जय के साथ ही चली आई पर गाड़ी की रफ्तार तेज हो चुकी थी।

जय द्वार पर खड़ा हो गया था। उसे तीन हाथ, दूर तक उसकी विदाई में हिलते हुए दिखाई दिये।

गाड़ी चल पड़ी। फर्लांगों और मीलों को तय करती हुई, पर जैसे जैसे दिल्ली से दूर हो रही थी वैसे ही उसकी रफ्तार बढ़ती गई। जय सीट पर आ बैठा। खिड़की में से झाँक कर देखा, दूर-दूर के पेड़ उसके साथ भागे जा रहे हों, जैसे वे उसकी दौड़ में शरीक हो गये हों। उसके मन में उठनेवाले विचार कभी दूर पर दिखाई पड़नेवाले गहरे द्रष्टा की भाँति, गहरे और पास ही अड़े-खड़े हुए पहाड़ की भाँति ऊँचे चढ़ते हुए-से अनुभव हो रहे थे।

'कहीं कुछ भी तो स्थिर नहीं है, विरक्ति भी और अनुरक्ति भी। मैं सोचता हूँ व्यवस्था सबसे ऊपर है, पर वही स्थिर होने पर जड़ बन गई। उसको गतिशील बनना पड़ेगा, नहीं तो व्यवस्था और अव्यवस्था का संघर्ष प्रारंभ हो जावेगा।

'प्यार भी कैसा है ? क्यों है ?'

उसने धीरे से एक उसाँस ली।

'कुछ नहीं है, एक की लाश पर दूसरे की मनुहार, इतनी सीमाएँ क्यों हैं ? प्यार सबसे ऊपर है पर एक-सा नहीं हो सकता। जीवन में जिसने उसे पा लिया, वह सब कर सकता है। राधा को लाख-लाख धन्यवाद। जी करता है उसके आगे मस्तक झुका दूँ, तुमने मेरी आँखें खोल दीं, राधा ! मैं एक जीवन क्या अनेक जीवन तक तुम्हारी इस कृपा के आभार से मुक्त नहीं हो सकता।

और बेचारी सुधा ! उसे प्यार नहीं मिला आज तक। मैं दूँगा उसे प्यार, पर वह जिस रूप में चाहती है, उसमें नहीं, उसमें देय अधिक है, वह भोग के अधिक निकट है, भोग के लिये ही तो व्यवस्था है, प्रेम के लिये नहीं।

फिर जैसे उसका हाथ कुछ गीला हो गया था, उसे लगा किसी का चिबुक रखा है, केश सामने लहरा रहे हैं। बड़ी-बड़ी आँखें सामने डबडबा आई हों।

वह सोच नहीं पा रहा था, उसे क्या हो गया ?

रूप का यह आकर्षण यदि मनुष्य को बेसुध कर दे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है यदि मनुष्य इसके संकेत पर कोई बहुत बड़ी घटना बना ले तो भी कोई विशेष बात न होगी, पर मैं इसे अपना नहीं सकता, जैसे मेरे हिस्से में इसका यह भाग नहीं है। मैं औरों से इसीलिये ईर्ष्या नहीं करता, मैं समझता हूँ भोग के पश्चात् उसकी चमक सदा के लिये समाप्त हो जावेगी। मेरे साथ सब चल सकते हैं, सारा संसार, और उनके साथ वे ही जिन्होंने कुछ दिया है और लिया है।

पर ओह कितना गलत समझ जाते हैं, निकट के व्यक्ति भी।

तुममें से एक ने प्यार दिया, छल नहीं करूँगा, कामिनी !

'प्लीज़ !'—जय ने सुना, कोई अत्यन्त मधुर कोमल वाणी में उससे कुछ कहना चाह रहा है—'आप ज़रा इधर आ जाइये, थोड़ी देर के लिये, मैं सूटकेस निकाल लूँ।

'अवश्य।' वह सामनेवाली जगह पर आ गया। एक अंग्रेजी ढंग से कपड़े पहिने युवती ने सूटकेस में से कुछ किताबें निकालीं, फिर वह पास ही आ बैठी।

'आप अपना घर छोड़ कर जा रहे हैं?

'नहीं तो, अपने मित्रों से मिलने यहाँ तक आया था, घर वापिस जा रहा हूँ।'

'ओह मैंने समझा, सौरी!'

'कोई बात नहीं, आप...'

'मैं भी'--उसने कुछ संकोच से कहा--'मैं अपने पति के पास छुट्टियाँ बिताने जा रही हूँ।'

फिर बात चल पड़ी। गाड़ी की रफ्तार और तेज हो चुकी थी। जय कुछ बातों को याद कर रहा था और कुछ बातें भुलाना चाह रहा था। स्टेशन पर स्टेशन पार करती हुई गाड़ी का भी गन्तव्य है। उसमें सवार आदमियों का भी, पर मनुष्य की यात्रा का क्या गन्तव्य है? किस के साथ वह अपनी यात्रा पूरी करेगा, किसको मार्ग में छोड़ देगा, कौन उसका रास्ता छोड़ कर दूर हो जावेगा? जय सोच रहा था--किसी का कुछ पता ठिकाना नहीं है, पर यह यात्रा स्वयं एक सचचाई है, झूठ कहने से झूठ हो नहीं सकती, स्वयं ही भ्रम में पड़े रहो, कोई इसे सच और झूठ सिद्ध करना चाहते हैं, कुछ सोचने के लिये रुकते हैं या रुक कर सोचना चाहते हैं, उनके लिये इसका पता लगाना कठिन है।

पर जो हिम्मत हार चुके हैं वे सतह के बिलकुल नीचे अतल में गोते खा रहे हैं।

फिर धीरे-धीरे परिचय बढ़ चला।

जय ने मन में कहा हर वही बात, वैसी ही, आनन्द में--शिव!

× × ×

गाड़ी के प्लेटफार्म से निकल जाने के पश्चात् भी शैलेन्द्र और सुधा कुछ क्षण उधर देखते रहे, जैसे कुछ देर के लिये कोई चीज भरी हो,

फिर खाली हो गई हो, बरसनेवाले बादल की भाँति। कुछ देर बात टूकड़ी बरस कर चली गई हो। शोभा ने दोनों का ध्यान भंग कर दिया।

'अच्छा दीदी मैं चलूँ, दूसरी गाड़ी के आने में लगभग एक घंटा है, एक मित्र के यहाँ। आप...'

'हमलोग भी जा रहे हैं'--शैलेन्द्र ने कहा--'अच्छा।'

फिर दोनों ही बिना बोले प्लेटफार्म से बाहर निकल आये। रिक्शा किया गया।

'जय का व्यक्तित्व...!'

अधूरी बात को सुधा ने पूरा किया, 'व्यक्तित्व कितना शालीन है इतना विद्वान् व्यक्ति, पर अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया है।'

'सुधा'--शैलेन्द्र ने कहा--'जय मेरा मित्र है पर है दुरुह। समझ में आ जाना आसान बात नहीं है।'

वह कुछ न बोली। रिक्शा तेजी से दौड़ रहा था।

सुधा सोच न पाई, शैलेन्द्र ऐसा क्यों कहते हैं, वे आसान हैं, सरल हैं प्रेम कर सकते हैं, प्रेम दे सकते हैं, अपने पैरों पर खड़े हैं, उनमें संयम और शालीनता है, सब बातें साफ तो हैं। पर उसने उभरने नहीं दिया। वह स्वयं में खो गई, जैसे किसी मनुहार के पश्चात् वह अलस, मौन, ठगी-सी रह गई हो। उसने अनुभव किया शैलेन्द्र जितने उसके निकट बैठे हैं, वे अब और उतने ही दूर हो गये।

थोड़ी देर में शैलेन्द्र और सुधा अपने घरों की ओर चल दिये।

पर यह क्या हुआ, इस नारी ने मुझे श्लथ क्यों कर दिया? जय क्या इसी बात से इतना प्रभावित हुआ कि पत्र भी न देने दिया। पर नहीं...और जो सुधा ने अपने घर में प्रवेश किया तब वह जाने कैसी हो गई, उसे अनुभव हो रहा था वह एकाकी है, बिल्कुल एकाकी! द्वार बन्द कर वह अपने कमरे में चली गई।

उसने सुना कोई किवाड़ खट-खटा रहा है वैसी ही ब, वही पुरानी बात। तीन दिन पहिले की। क्या वे लौट आये।

वह जीना उतर कर आई। खट...खट...खट।

पर कोई नहीं था।

उसने सोचा—'कैसा है मन! बुद्धि को क्या हो गया? मैं अभी ही तो उन्हें स्टेशन तक विदा कर आ रही हूँ। क्या यह बचपन अब मुझे शोभा देता है? और.. और क्योंकर इतने अच्छे हैं वे? मुझे ईर्ष्या क्यों होती है? मेरी कोई बात भी नहीं जानना चाहते, यह भी नहीं मैं पवित्रता तिरोहित कर चुकी हूँ, यह भी नही मेरे पिता कौन हैं इसका मुझे भी पता नहीं। माँ ने नहीं बताया आज तक। ऐसी समाज तिरस्कृत नारी के लिये भी उनके हृदय में स्थान है।

उसे मानों किसी ने झकझोर दिया। वह यह क्या सोच रही है? इतने विराट व्यक्तित्व को वह अपने स्वार्थ में बाँध ले ऐसे ही व्यक्ति समाज, देश और संसार को अपने रास्ते पर ला सकते हैं...नहीं, मैं उन्हें नहीं बाधूँगी, क्यों बाँधूँ किसी को?

पर लहर सतह से मुक्त नहीं, सतह के अतल तक पहुँच कर लौट आने की शक्ति हर उस लहर में नहीं हो सकती जो सतह से जूझ जाना चाहती है, वहाँ तो ज्वार है, द्वन्द्व है, सुख और दुःख है, छोटे और बड़े का विभेद है, नैतिक और अनैतिक आख्यान है, षोषण और षोषित का अपना अपना दाँव है।

जो सब कुछ पो जाने के बाद भी विरक्त नहीं है, कर्म की ज्योति सदा जिसके अन्तर में जल रही है, जो सब कुछ जानने के बाद भी अपने अज्ञान के लिये क्षमा प्रार्थी है।

उसने सोचा—वह अब यहाँ नहीं रहेगी, रह न पायेगी। कल माँ के पास हरद्वार चली जायेगी, प्रातःकाल की पहिली किरण के साथ।